UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180004

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83·1/S15V Accession No. G.H.240

Author सक्सेना, रामनाथ

Title वे चार

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रकाशक
विद्यामंदिर-प्रकाशन
मुरार (ग्वालियर)

प्रथम संस्करण
मूल्य १)

मुद्रक
जीवन प्रेस
लश्कर (ग्वालियर)

बन्धुवर भगवती-चरण वर्मा को

प्रस्तावना

अपनी इन कहानियों को हिन्दी - जगत् के सामने लाते समय श्री शम्भुनाथ सक्सेना ने कहा कि मैं उन पर अपने दो शब्द दूँ। यह अनावश्यक होना चाहिए। लेकिन इधर वर्षों से मेरा उनसे परिचय है और मैं उनसे वय में बड़ा हूँ। इस नाते उनका मुझ पर अधिकार है।

आज परिस्थिति में बहुत उलझन है। आदमी का मन उससे बरी तो नहीं रह सकता। इससे कहानी-लेखक का काम भी बड़ी उलझन का है। पहले उलझन कम थी और कहानियाँ भी सीधी नैतिक या सुधारक हो सकती थीं पर अब उन्हें विश्लेषणात्मक होना पड़ता है। निदान हाथ आए तब तो इलाज हो। आज निदान खोजने में ही लेखक बीत जाता है। इससे उसके हाथ में आज इलाज नहीं है, केवल खोज और जिज्ञासा है।

प्रेम व्यक्ति में उतर कर उतना शुद्ध नहीं रहता। उसमें काम मिल जाता है। सकाम होकर प्रेम सहजसिद्ध कैसे हो। जीवन की यही समस्या है। पहले एक ओर समाज-मर्यादा थी यानी विवाह, और दूसरी ओर प्रेम। अधिकांश उन्हीं दोनों में घात-प्रतिघात चलता था। आज तो उस गुत्थी-में और सूत आ मिले हैं जैसे अर्थ और विचार। आर्थिक विग्रह है और मतवादों का विग्रह है। भावनाओं की सतह-पर इस अर्थ और मत के विग्रह का कम उत्पात देखने में नहीं आता। इस तरह समस्या सीधी नहीं रह जाती, बहुत उलझी हो जाती है।

लेखक ने कहानियों में उस गहरी उलझन में निगाह डालने और कुछ उधेड़बुन करने का साहस किया है, जिसके लिए उन्हें हम बधाई दे सकते और उनके प्रति सहानुभूति रख सकते।

हवा में आज भाषा का सवाल भी भरा है। साहित्य के मामले में भाषा को मैं मुसीबत मानता हूँ। भाषा सामने आई और भाव पीछे रहा तो क्या वह साहित्य हुआ? मेरे लेखे तो साहित्य वह जहाँ भाषा का पता ही न चले, भाव ही भाव दीखें। मुझे डर है कि इस पुस्तक में भाषा स्वयं होकर भी है। मेरी भावना है कि उत्तरोत्तर लेखक में भाव की इतनी प्रबलता और विषय की इतनी तल्लीनता हो कि भाषा उसमें डूब जाए और इस तरह कृतार्थ हो जाए।

मैं लेखक की सफलता चाहता हूँ।

७ दरियागंज
दिल्ली

जैनेन्द्रकुमार
२-११-४५

सूची

वे चहरे	१
रेखा	१०
नितीन की कहानी	१७
वशीरन	३०
विभेद	३६
पहले फर्मे का मैटर	४८
अभिलाषा	५८
प्रश्न सूचक चिन्ह	६६
मियाँ खलील का हाल	७६
मार्क्स और प्रेम ८७--१०१	

वे चहरे

वे चहरे

कभी-कभी जीवन में कुछ ऐसे चहरे देखने में आते हैं, जो एक बार में ही दूसरे पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ जाते हैं। और तब उन्हें लाख भुलाने की चेष्टा करो, वे वैसे ही बने रहेंगे। उनके विषय में प्रति-क्षण सोचने की गति के साथ ऐसा प्रतीत होता है, मानों उनका अस्तित्व शाश्वत है, रेखाएँ अमिट हैं और उनसे किसी भी प्रकार निस्तार पाना असम्भव है।

मेरे जीवन से भी कुछ ऐसे चहरे सम्बद्ध हैं। उनकी स्मृति से छुटकारा पाना मेरी शक्ति से परे की बात है। जितना उनके बारे में सोच कर उन्हें अपने से दूर कर देता हूँ, उतना ही रहस्य वे अपने साथ समेट कर नवीनता पाजाते हैं। अभी-अभी मैं अनायास कलकत्ते की स्प्लेनेड सड़क पर भीख माँगते उस कोढ़ी के विषय में सोचने लगा था, जिसका सारा शरीर कोढ़ के चितकबरे दागों से भरा था—जगह-जगह पर फफोले

पहाड़ी आलू की तरह उठे हुए थे—आँखें कीचड़ में बुरी तरह सनी हुई थीं—चहरे के दाहिनी ओर का माँस साफ़ था और सड़ी हुई डाढ़ चमक रही थी। उसे देख कर ऐसा मालूम होता था, जैसे खूनी जानवर ने पंजे से माँस खींच लिया हो। एक तरफ़ कान के पास नासूर था, जिससे पीव-मिश्रित पानी बह रहा था। उसके पैर और हाथ की अँगुलियाँ कुष्ट-रोग से गल-गल कर गिर गई थीं और पतझड़ के ठूँठ-पेड़ों की फुनगियों-सी लगती थीं। उसके बदन से कड़ी दुर्गन्ध उड़ रही थी और वह रेत पर पड़ी मछली के समान तड़प-तड़प कर अपनी जिन्दगी की रक्षा के हेतु राहगीरों से पैसा माँग रही थी। उसके चहरे पर उत्पीड़न, विवशता और अन्तर्द्वन्द्व की कुछ ऐसी दुःख-पूर्ण रेखाएँ अंकित थीं, जिन्हें एकबार देख कर भुलाना असम्भव है।

अब मेरे सामने एक दूसरे चहरे की स्मृति सजग हो उठी है। जब कभी मैंने अपने सम्मुख के चहरे के बारे में सोचा है, तो मुझे अपने अन्दर से ऐसा आभास मिलता रहा है, जैसे वह मेरे चेतन अवयवों को हथौड़े से चोटिल कर बेकाम, मूर्छित और अचेतन कर देना चाहता हो। कई बार इस चहरे की कल्पना के साथ मैंने अपने अन्दर को शान्ति को भंग होते और स्वयं को विक्षुब्ध, खोखले और विषम्य वातावरण में पाया है। जिन्दगी में एक बार मृत्यु की भयानकता को मैंने साक्षात देखा था। उस की कटुता, कुरूपता को समेट, अपने नग्न-रूप में मेरे सामने खड़ी थी। उस भिखारिन के चहरे को देख कर मैं नहीं समझ पाया था, सच तो यह है आज भी समझने में

असमर्थ हूँ, कि ऐसा मानव के शरीर में क्या होता है, जो स्फुटित हो ऐसा भयानक, घृणित और ग्लानि-युक्त प्रतीत होने लगता है।

मैं उन दिनों बाँकीपुर की 'कुनकुनसिंह लेन' के चौराहे पर, जहाँ से एक सड़क सीधी गंगा किनारे की ओर, दूसरी महेन्द्रू घाट की ओर, तीसरी भिखना-पहाड़ी की ओर; और चौथी पिण्टू-होटेल होती हुई एक्जीबीशन-रोड़ की ओर जाती है, एक प्रायवेट होम्यो-डिस्पेन्सरी खोले हुए था। अनायास एक दिन एक भिखारिन, जिसके तमाम बदन पर भारी माँस के लोथड़े लटक रहे थे, जो दूर से ऐसी प्रतीत होती थी, मानों फल से लदी हुई अरंड-ककड़ी का पेड़ हो, आकर डिस्पेन्सरी के सामने लेट गई। उसके शरीर से बदबू के कुछ ऐसे अबखरे उड़ रहे थे, जिनके कारण आस-पास की हवा में एक अजीब किस्म की भभक-सी भर गई थी। मुझे ऐसा आभास मिला मानों म्युनिस्पेलिटी की गन्दगी से भरी गाड़ी मेरे सामने उँडेल दी गई हो। मैं रूमाल से नाक दबाये उसके पास गया। देखता क्या हूँ—उसके मुह से लार टपक रही है, हाथ-पैर शिथिल और ऐंठ गये हैं, आकृति विकृत होगई है और उसकी शून्य विस्फारित आँखें पथरा कर किसी बिन्दु पर केन्द्रित होगई हैं। उसके चहरे पर कुछ इस तरह का भाव अंकित था, मानों वह इस संसार की भर्त्सना कर उस का उपहास कर रही हो—'अपने में महान् सशक्त तू यह न समझ कि तेरे पार्श्व में पनपने वाली पशुता और अन्यायपूर्ण अमानवीय यातनाएँ मुझे मृत्यु के बाद भी घेर सकेंगी—मुझे रुला सकेंगी। तेरी

अपनी सीमा है। और आज मैं वह सीमा पार कर तेरे बन्धनों से-तेरे घेरे से छुटकारा पागई हूँ। जहाँ तेरी पहुँच असम्भव है।'

यह सब लिखते-लिखते मेरे सामने प्रातःकाल की शान्त, स्निग्ध-समीरण से हिलोरे खाते हुए नव-विकसित, विहँसित गुलाब की तरह ताज़ी, कोमल, स्फुतिप्रद, सुन्दर—अतिसुन्दर आकृति साकार होआई है।

गत वर्ष मैं आवश्यक कार्य-वश लाहौर जारहा था। बीच में तीन दिन के लिए मैं दिल्ली उतर गया। अपना सामान मेजेस्टिक हॉटेल में रखवा कर सबसे पहले मैंने यह उचित समझा कि लाहौर सूचित कर दूँ, 'दिल्ली उतर गया हू, अमुक दिन न आकर,अमुक दिन आऊँगा।'

यदि आप में से किसी ने दिल्ली देखी हो और ग़ौर से देखी और परखी हो तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह जो दिल्ली ऊपर से नव-विवाहिता दुलहिन-सी सजी, आशा की उमंगों से भरी यौवन के भार से लदी, सँवारी, मदमाती और बुढ़ापे के प्रति साकार व्यंग-सी प्रतीत होती है, वास्तव में इसकी आन्तरिक स्थिति सर्वथा विपरीत है। अनुभव आपको बतायेगा—दिल्ली का सुहाग छिन गया है, उसके जीवन की रंगीनियाँ गुलाब के मुरझाये हुए फूल की पँखुडियों की भाँति कुम्हला कर बेरंग होगई हैं। उसके यौवन सध्या के समय डूबते हुए सूर्य के पीलेपन की तरह शेष रह गया है, जो क्षय का चिह्न है। दिल्ली की पुरानी प्रसिद्धि प्राप्त नवाबी सरफ़राजी आज चाल और फ़रेब में परिवर्तित होगई है। आर्थिक प्रताड़ना ने लोगों के जीवन में से

सात्विक वृत्तियों और मनोविनोद को इस प्रकार खींच लिया है, मानों जोंक ने ख़ून चूँस लिया हो।

ख़ैर मैं घण्टाघर के पासवाले पोस्ट-ऑफ़िस के नीचे बनी हुई पत्थर की मेज पर पोस्ट-कार्ड रख कर लिख रहा रहा था, तभी मुझे ऐसा मालूम हुआ मानों कोई मेरे पीछे आखड़ा हुआ हैं। दिल्ली होशियारी बरतने की जगह है—चोर-लुटेरों और जेब-कटों का तीर्थस्थल है। अतएव दूसरे ही क्षण मैंने मुड़कर देखा तो अपने पीछे एक काला जापानी-सिल्क का बुर्क़ा पहिने एक औरत को खड़ा पाया—उसके सीधे हाथ में मनीआर्डर फ़ार्म था और वह हाथ मेरी ओर बढ़ा हुआ था।

मैंने पूछा—' कहिए ? '

उसने फ़ॉर्म मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—'देखिए, मेहरबानी करके इस फ़ॉर्म पर उर्दू में लिखा पता अँग्रेजी में और लिख दीजिए ?'

मैंने फ़ॉर्म उसके हाथ से ले लिया और पता अँग्रेजी में लिख कर उसे सौंप दिया। फ़ॉर्म लेकर वह एक क्षण के लिए रुकी। उसने अपने बुर्क़ का आँखों के सामने वाला पल्ला उठाया और धीरे से, मधु-पराग से मधुर रस-पूर्ण स्वर में कहा— 'शुक्रिया'।

मैंने एक बार उसकी ओर ग़ौर से देखा। आप यक़ीन जानिए, मुझे पैरिस, न्ययार्कएवंलंदन की सुन्दर से सुन्दरतम युवतियों को देखने और उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला है--हॉलीवुड़ और भारत की भी चिताकर्षक नयनाभिराम सिनेमा-अभिनेत्रियों को देखा है, लेकिन उन दो आँखों में

कुछ ऐसा आकर्षण था—उसके चहरे पर कुछ ऐसा प्राकृतिक सौन्दर्य था, जिसने मुझे सहज ही अपनी ओर खींच लिया। मैं कुछ बोलूँ, कहूँ, कि उसने पल्ला डाल लिया और शीघ्रता से मनीआर्डर-खिड़की की ओर बढ़ गई। मेरी जिज्ञासा और उसे पुनः देखने की इच्छा अति प्रबल हो उठी। मुझे प्रतीत हुआ मानों अन्दर से कुछ रिक्त होगया है। इस अभाव में कसक थी, वेदना थी और एक विशेष प्रकार के मीठे दर्द की चुभन थी।

मैंने देखा खिड़की तक उनका पहुँचना बहुत कठिन है। मैंने उनके हाथ से मनीआर्डर फॉर्म ले लिया और रुपये भी! और रुपये जमा कर रसीद उनके हाथ में सौंप दी। उसने एक बार पुनः पल्ला उठाया। आँख वैसी ही समुद्र की लहरों पर पूर्णिमा के चाँद की चाँदनी-सी फैली, रूपहली, चमकीली, स्निग्ध, शान्त और कोमल थीं। उसने फिर वही शब्द दोहराया—

'शुक्रिया!'

मैं आपसे सही कहता हूँ कितनी देर तक मैं उस चहल-पहल से भरे सँकरे रास्ते में 'शुक्रिया' शब्द की महिमा की नाप-जोख करता भौंचक्का-सा खड़ा उसकी ओर देखता रहा, यह मेरे लिए बताना कठिन है। लेकिन जब तक मैंने स्थिति सभाली, तब तक वह रिक्शे पर बैठ चुकी थी और रिक्शावाला हाथ की घण्टी बजाकर, ज़ोर-ज़ोर से चीख कर रिक्शा भीड़ में लिए रास्ता तै कर रहा था। मैंने पास खड़े दूसरे रिक्शे वाले को बुलाया और उस रिक्शे के पीछे चलने का आदेश दिया। पहिला रिक्शा मेजेस्टिक हॉटेल के पास वाले हॉटेल के सामने खड़ा होगया और वह उतर कर ऊपर चली गई। कुछ देर तक

मैं नीचे भौंचक्का-सा खड़ा रहा। लेकिन मुझे प्रतिक्षण अन्दर से ऊपर जाकर उससे पुनः मिलने की प्रेरणा मिल रही थी। लोक-लाज से मुझे नफ़रत रही है। जो कुछ हो चमकीला हो, धूप की तरह स्पष्ट हो, बहते-जल की तरह साफ़ हो और चाँद और सूर्य की तरह प्रत्यक्ष हो। न जाने तब क्यों और किस आधार पर मैं आँधी के एक भारी झोंके की तरह ऊपर चढ़ गया। होटेल के बहरे ने पूँछा— 'आप किससे मिलना चाहते हैं?'

मैंने मनीऑर्डर फॉर्म पर किये हस्ताक्षर पढ़लिए थे, और तब बिना एक क्षण का विलम्ब किये कह दिया —

'मेहरुन्निसा बानू से!'

थोड़ी देर में वे मेरे पास बिल्ली की झपट से घबराई कबूतरी-सी विकम्पित और सशंकित आकर खड़ी होगईं—

'कहिए, आप यहाँ कैसे आये?'

प्रश्न स्पष्ट था। लेकिन दिमाग़ में विचारों का विपरीत तार बँधा हुआ था, कि समझ न सका, क्या कहूँ? मैंने एक बार उनकी ओर याचना की दृष्टि से देखा और धीरे से कह दिया—

'मुझे आपसे कुछ बातें करनी हैं।'

उसने घबरा कर मेरी तरफ़ देखा और धीमे किंतु सधे हुए स्वर में कहा,

'आप नीचे जाइए। इन्तजार कीजिए, मैं थोड़ी देर में आपसे आकर मिलूँगी।'

मैं नीचे चला आया! लेकिन शाम हो गई और वह नहीं आई। मैं अपने साथ अभाव और प्रतीक्षा का असफल कटु

अनुभव लिए अपने हॉटेल लौट आया। दूसरे दिन जब मैं फिर हॉटेल में जाकर उनसे मिला, तो आप यक़ीन जानिए वह ऐसी घबराहट, कि आरम्भ में एक बात भी ज़ुबान से न निकाल सकीं। मैंने फिर कहा—

'मुझे आपसे कुछ बातें करनी है।'

उसने दबी हुई, मरीज़ों की तरह घुटी हुई, विकम्पित आवाज़ में कहा—

'आप जानते हैं कि मैं मुसलमान हूँ। मनीऑर्डर फ़ॉर्म से आप को यह भी पता लग गया होगा, कि मैं विवाहिता हूँ। कलकत्ते के पते पर जहाँ मनीऑर्डर किया गया है, वे मेरे पति हैं। और यहाँ मैं अपनी मां के साथ ठहरी हुई हूँ। अब आप बराए-मेहरबानी फ़ौरन नीचे चले जाइए और देखिए, अब कभी मिलने की कोशिश न करिए।'

मैंने अध-डूबे आदमी की तरह साहस किया—

'मुझे आपसे कुछ बात-चीत करनी है।'

मेरे स्वर की बेबसी ने इसबार उसे पिघला दिया। प्रश्न के उत्तर में वह मुस्करा दी—

'अच्छा पहिले शो के वक्त मिनर्वा-टॉकीज़ पर मिलना।'

मैं चला आया। सन्ध्या-समय मैं मिनर्वा-टॉकीज पर जब पहुँचा तो दूर बुर्का ओढ़े वह खड़ी थीं। टिकट लेकर हम दोनों सिनेमा हॉल में चले गये। खेल चल रहा था। उसने पूछा—

'आपने बताया नहीं, क्या कहना चाहते थे?'

मैं थोड़ी देर चुप रहा। अन्दर तूफान-सा उठ रहा था। उसी आवेग में मैंने कहा—

'मैं इस मुलाक़ात को स्थाई और स्मरणीय बनाये रखने के लिए एक उपहार देना चाहता हूँ।'

उसने बिना किसी प्रकार का कुतूहल प्रकट किये हुए कहा—'क्या तोहफ़ा दीजिएगा?'

मैंने कहा—'ऐसा, जो इस मुलाक़ात की याद में सदा ताजा और याद दिलाने वाला रहे।'

वह चुप रहीं। इण्टरवल में कुछ ही मिनिट शेष थे कि मैंने उसके हाथ को अपने हाथों में लेकर चूम लिया। यह उपहार मैंने उसे दिया था। मेरे इस अशिष्ट व्यवहार का उस पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, यह मैं आज भी नहीं कह सकता। हॉल उस समय बिजली की रोशनी में जगमगा उठा था। हम दोनों हॉल से बाहर निकल आये थे। वह घर चली गई।

× × ×

लिखते-लिखते मेरे सामने कलकत्ते की स्प्लेनेड सड़क वाले कोढ़ी और उस मौत की भयानक गोद में सोती भिखारिन के चहरे आखड़े हुए हैं। चाहता हूँ इनसे छुटकारा मिले तो स्वस्थ हो लूँ। लीजिए लिखना ही बन्द किये देता हूँ। अब न लिखूँगा—न सोचूँगा।

रेखा

मैं अभी-अभी एक लम्बी यात्रा से लौटा हूँ और बहुत उदास हूँ।

अभी सोचने लगा हूँ—

यह रेखा की स्मृति क्यों पाप की छाया-सी मेरे जीवन में लिप्त हो गई है। मैं नहीं चाहता रेखा-वेखा की बात मेरे मन में आये-मैं किंचित भी अमुक अथवा अमुक की स्मृति से अपनी गति में अवरोध उत्पन्न नहीं करना चाहता... चाहता हूँ केवल कि वर्तमान ही मूर्तमान रहे। और जो गया, वह अगम्य सरिता में पड़े कागद की नाँव की भाँति कूल-रहित अनन्त में लीन हो जाये—उसका अस्तित्व मिट जाये। लेकिन यह रेखा ? सोचता हूँ, कभी भी अपने को इतना समर्थ पाया है, कि रेखा की स्मृति को अपने से बाहर निकाल मन को वर्तमान में प्रसन्न एवं स्वस्थ कर पाया हो। मन तो बालक की चन्द्रमा पाने की हट की तरह अतीत की ओर दौड़ता है, तब चाहे जितने

प्रतिबन्ध लगाओ, चाहे जितना उसे वर्तमान की सफलता और भविष्य की स्वर्णिम सफल कल्पनाओं की ओर अग्रसर करो।

और इस यात्रा में इसी रेखा की स्मृति ने मेरे अधभरे-घावों में फिर से नश्तर लगा दिया।

× × ×

उस दिन जब कानपुर की कमला-टॉवर से परेड की ओर जा रहा था, कि अपरिचित नगर में अपना नाम सम्बोधन सुन कर चौंक पड़ा। मैंने मुड़ कर देखा तो रेखा मेरे सामने खड़ी थी। रेखा ने आगे बढ़ कर कहा--

'अजीत, मैं कब से पुकार रही हूँ, उधर, गणेश-शङ्कर-विद्यार्थी-रोड से! और तुम हो कि आँधी के वेग से बढ़े चले जारहे हो। उफ़, मेरी तो दम भर आई।

मैंने रेखा को देखा और एक तीव्र घृणा-फिर वेदना से मन घनीभूत होगया। लेकिन फिर भी शिष्टता से मैंने उत्तर दिया-'क्षमा करना रेखा देवीजी, सुना नहीं।'

रेखा ने एक कुटिल भ्रूक्षेप कर कहा--

'अजीत की भावुकता सम्भवतः किसी कल्पनादेवी की आराधना में तल्लीन थी।'

मैंने उत्तर नहीं दिया। केवल घृणा और उत्पीड़न का भार और बढ़ गया; मन मसोस उठा।

आगे लिखने के पूर्व कुछ अपनी कह देना उचित होगा। अन्यथा मेरे विषय में कोई भी धारणा भ्रमपूर्ण, और प्रवाद अन्याय का प्रतीक होगा। मैं बात को बढ़ावा नहीं दूँगा। इतना केवल

कहना है कि रेखा के प्रति–मेरी घृणा, नारी-समाज के प्रति घृणा की द्योतक नहीं है। किसी की पसन्द या नापसन्द, घृणा अथवा स्नेह, अच्छाई अथवा बुराई इनकी आसक्ति किसी व्यक्ति या वस्तु विशेष के साथ ही होती है। इसकी इकाई को 'पूर्ण' में ग्राह्य समझना एकांगी सत्य होगा, नितान्त भ्रमपूर्ण !

तो मेरी घृणा रेखा के प्रति है। और वह उसके व्यक्ति से ही सम्बन्धित है। लेकिन एक समय था, यही दो वर्ष पूर्व, जब यह रेखा मेरे लिये नियति का वरदान थी, काव्य-सिक्त सुन्दर अलंकारमय कल्पना थी, मेरा जीवन थी, सर्वस्व थी, और आज रेखा के नाममात्र से सद्भावनाओं पर कठोर प्रहार होता है–क्रोध और अनिच्छा तड़ित्वेग से दौड़ती है–वेदना आच्छन्न हो हतबुद्धि कर देती है।

और उसी रेखा ने जब बढ़ कर उपरोक्त वाक्य कहा तो मन मसोस उठा। प्रतिहिंसा ने उससे भी कहीं अधिक मर्म-भेदी व्यंग करने की प्रेरणा दी। फिर भी मैं प्रत्यक्ष कुछ न कह सका।

रेखा ने कहा—

'आज दो वर्ष इलाहबाद छोड़े हो गए। लेकिन तुम्हारा न कोई पत्र, न समाचार। अजीत बाबू, ऐसा भी कहीं होता है ? यह दो वर्ष ! उफ़ तुम कल्पना नहीं कर सकते–सच कहती हूँ स्वप्न में भी नहीं सोच सकते। मैंने तुम्हारा पता भर जानने के लिए कितना प्रयत्न किया है–कितनी चेष्टा की है। सदैव सचेष्ट रही हूँ कि अपने अजीत के सामने अपनी सफ़ाई दे पाती···।

लेकिन तुमने आज तक मौका ही नहीं दिया—एकबार भी नहीं।'

उसकी आँखों में आँसू थे—कंठ अवरुद्ध था, वाणी भारी थी, मानों शरद् की रात ओस से भीग कर भारी हो गई हो। मुझे उसकी सुन्दर आँखों में छल-छलाये आँसुओं को देख कर लेशमात्र भी दुःख नहीं हुआ। व्यथा या समवेदना नाम को भी सजग नहीं हुई। आप कह सकते हैं, सृष्टि की कोमलतम कृति में वेदना का उभार देखकर भी तुम्हारा हृदय नहीं पसीजा, तुम्हें दुःख नहीं हुआ, तुम मनुष्य नहीं पत्थर हो, तुम उस हिंसक पशु के समान हो, जो नर-बलि चढ़ती देखकर प्रसन्न-चित्त पूँछ हिलाता है। तुम्हारा कार्य अमानवीय है, तुम नृशंस राक्षस हो। और मैं इस निर्णय का बिलकुल बुरा नहीं मानूगा, क्योंकि अभी आपने मेरी बात सुनी ही कहाँ, फिर निर्णय क्या और कैसा?

रेखा मेरे सामने खड़ी थी और अपलक-नेत्रों से मेरी ओर देख रही थी, मानों मेरा कहा एक शब्द उसके लिए अन्तिम निर्णय होगा, जो उसे जीवन-दान दे सकता है—उसकी मरणासन्न कल्पना-शक्ति को सजीव कर सकता है। लेकिन मुझे कहने को कुछ भी नहीं था—न इच्छा, न प्रेरणा! केवल अपदार्थ-सा खड़ा मात्र था। और उसी समय रेखा ने सचेत होकर देखा और साथ ही मैंने देखा, इस प्रेमाभिनय को देख कर राहगीर हँस रहे थे—कुत्सित इंगित कर रहे थे। हम दोनों कट कर रह गये। मेरा क्रोध उबाल लेते दूध की तरह उफान लेरहा था। लेकिन फिर भी मैं प्रत्यक्ष में निश्चेष्ट ही रहा। रेखा ने विनम्र सलज्जित कहा—

'अजीत क्षमा करना। परिस्थिति का ज्ञान ही नहीं रहा। न जाने भावावेश में क्या-क्या बक गई। लेकिन जहाँ इतना कष्ट सहन किया है, वहाँ तुम्हें मेरे साथ घर और चलना होगा। यह मैं अपने अधिकार पर कह रही हूँ। यह जानते हुए भी कि तुम मुझ से नफ़रत करते हो—ख़ैर।'

राह चलते लोगों की चेष्टाएँ बढ़ती जा रही थीं। अधिक समय तक उस जनाकीर्ण चौराहे पर खड़ा रहना असम्भव था। मैंने साहस कर कहा—

'रेखा देवीजी, क्या मेरा आपके मकान पर चलना आवश्यक है?'

रेखा ने भुवनमोहिनी हँसी हँसते हुए कहा—

'चलना आवश्यक है, इसी कारण तो कहा।'

मैंने आगे एक शब्द भी नहीं कहा। दुराग्रह करने का साहस लोक-लाज के कारण नहीं हुआ। मेस्टन रोड के चौराहे से ताँगा किया और हम दोनों चल दिये। घर पहुँच कर रेखा ने कहा—

'अजीत बाबू! लोगों का कहना है मैंने अपने दुश्चरित्र को पनपने के लिए, अपने पति को ज़हर दे दिया। ऐसा कहने वालों के सामने सन्देह की गुंजाइश भी तो नहीं है। यौवन के भार से लदी युवती और क़ब्र में पैर लटकाए वृद्ध, भला क्या जोड़! और उन कहनेवालों में आप भी हो सकते हैं। सम्भव है यही मेरे से घृणा करने का कारण हो। और उसके लिए मुझे आप से कैफ़ियत तलब नहीं करना। और आज उस स्थिति में भी तो नहीं हूँ। तुम कहोगे—

'ऐसी अलटी-भलटी बातें करने से क्या लाभ?'

लेकिन नहीं अजीत, मुझे आज तुम्हारे सामने अपनी कैफ़ियत देनी है। दुनिया की मुझे चिंता नहीं है—वह क्या कहती है और क्या नहीं? लेकिन तुमने मुझसे प्रेम किया है—तुम्हारा अन्यतम ममत्व मुझ पर केन्द्रित रहा है।

विषम परिस्थितियों के बीच अनिच्छा प्रगट करते हुये भी जब मुझे लोभ-वश पिता के कठोर-नियन्त्रण ने पति नाम की सज्ञा देकर किसी अनजाने के गले बाँध दिया था उस अभिशप्त समय में तुमने कहा था—

'रेखा, हमारा दैहिकमिलन नहीं हो सका। लेकिन इस मिलन के अतिरिक्त भी उस सर्वशक्तिमान ने पूनर्जन्म में संयोग का विधान कर रखा है। और मुझे पूर्ण विश्वास है, उस जन्म में जिस प्रकार सतीने देवी पार्वती के रूप में महादेव को पाया था, उसी प्रकार तुम अवश्य मुझे पाओगी। लेकिन सुनो रेखा, यह जो आज वर्तमान हैं, इससे विपथगामिनी न होना, सामने की परिस्थितियों से लड़ना, लेकिन कर्तव्य-विमुख न होना। कर्तव्य की ज्योति में जीवन की नाव भरसक खेती रहना। और मुझे आशा है, तुम पार उतर जाओगी। झंझावात उठेंगे, भयानक उद्वेलित तरंगे तुम्हें बारम्बार पीछे ठेलने की चेष्टा करेंगी, उस समय तुम्हें आत्म-प्रेरणा से बल लेना होगा। समझो, अजीत का युवक-मन तुम्हारे पति का वृद्ध क्लान्त मन बन गया है। अजीत की ऐहिकभूख शिथिल होकर पति महोदय की थकी वासना में परिवर्तित होगई है, और अजीत कोई नहीं रहा है, कभी नहीं रहा है। रेखा तुम मुझे भूल जाओ।'

लेकिन अजीत! कहने पर से ही तो भुलाया नहीं जा सकता। तुमने कभी यह भी सोचा नारी अपने में कितनी दुर्बल है। विवाह के बाद तुमने एक दिन के लिए भी रेखा को अपने से सम्बन्धित समझा--मुझे निरवलम्ब छोड़ कर अलग खड़े हो गए। अजीत, मैं सही कहती हूँ, यदि मुझे तुम्हारा तिनके का भी सहारा रहता तो जो जनश्रुतियाँ मेरे विषय में आज प्रचलित हैं, उन्हें कभी इतना विकास नहीं मिलता, इतना तुम सही मानो।

मैं कदापि नहीं चाहती कि तुम मेरे अन्तरंग बन कर रहो--लेकिन पथ-प्रदर्शक के रूप में अवश्य चाहती रही। और सुनो अजीत, यदि रेखा को तुम थोड़ा भी पहिचानते होगे, तो सोच देखना, पति को विष-पान कराने का-सा जघन्य पाप मेरे द्वारा हो सकता है?'

मैंने उकता कर कहा--

'अब मैं जा सकता हूँ, लो जा रहा हूँ। जो कुछ तुमने कहा उसमें कहाँ सत्य है--क्या सत्य है, मुझे इससे क्या?'

मैं उठ खड़ा हुआ। रेखा ने अवरोध नहीं किया। चीख़ अवश्य पड़ी-'अजीत तुम बड़े निष्ठुर हो-अविवेकी हो-नितान्त मूर्ख हो!'

मैंने प्रत्युत्तर में कुछ नहीं कहा, चला आया।

लेकिन सम्पूर्ण यात्रा भर रेखा की स्मृति भूत की तरह मेरा पीछा करती रही है। और आज जब लिख रहा हूँ, तो घृणा और वेदना के कारण उदासी मुखरित हो गई है। फिर भी अनायास विचार उठता है कि रेखा ने जो कुछ कहा वह क्या सत्य हो सकता है?

नितीन की कहानी

मेरे नवविवाहित मित्र की मृत्यु हुए अभी एक सप्ताह हुआ है। अभी जब मैं उसके घर परदेस से पहुँचा, तो माँ ने बेदना मिश्रित आँसुओं के घूँट पीते हुए मेरे हाथ में नितीन की हस्त-लिखित डायरी सौंप दी।

मैं पाण्डुलिपि को पढ़ गया हूँ। डायरी में बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जिन्हें नितीन ने रहस्य बना कर रखा, और समेट कर अपने साथ ही ले गया। लेकिन मैं रहस्य-वहस्य कुछ नहीं मानता। इसलिए जो कुछ डायरी के पृष्ठों में अंकित है, आज जनता का है—सार्वजनिक है। रहस्य की बात नितीन के जीवन के साथ चली गई। जिसका रहस्य था जब वही नहीं, तब रहस्य कैसा और क्या? इसी एक कटु सत्य के अवलम्ब पर नितीन के जीवन की कहानी को, जिसे उसने रहस्य बना कर रखा—सीमित! उसकी प्रताड़ना को सहा, नित्य-सहा, नित्य प्रति स्वयं तिल-तिल जलता रहा लेकिन कभी अपनी वेदना के विषय

में उफ़ तक न की—जबान तक नहीं खोली, कभी न किसी से ऐसा कहा और न वैसा ! उस रहस्य को आज मैं निर्मम डाक्टर की भाँति चीर-फाड़ कर, उसके नग्न यर्थाथ रूप में अपने पाठकों के सम्मुख रखे देता हूँ।

सब कुछ तफ़सील में कहने के पूर्व एक बात नितीन और अपने जीवन से लगी को और खोल देना चाहता हूँ। मुझे उसका अन्तरग्राही—'अपना' होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उसने मुझे अपना सगा समझा और मैंने अपना ममत्व उस पर केन्द्रित कर दिया। पारस्परिक भावनाओं का समन्वय हुआ और हम एक होगये, न वहाँ दूध अलग था और न पानी, दोनों में कभी कुछ पराया नहीं रहा-कभी परस्पर सम्बन्धों में खरा और खोटा परखने की आवश्यकता ही प्रतीत न हुई। लेकिन डायरी की बात मेरे लिए रहस्य थी। इतना अवश्य पता था कि विवाह से वह सन्तुष्ट न था, लेकिन उसने विवाह-सम्बन्ध में विरोध नहीं किया। जैसा सबने कहा, उसने मान लिया। भाभी को मैंने देखा है और मुझे दुख के साथ अपने पाठकों को यह बताना पड़ रहा है, कि वे नितीन के योग्य न थीं। जब इतनी बड़ी बात कही है, तो कारण भी देने पड़ेंगे।

नितीन में दिखावा न था। कभी यूनीवर्सिटी के अन्दर उसने पैर न रखा था—हाईस्कूल की दीवारों तक ही उसका पुस्तक ज्ञान—उसकी विद्या सीमित थी। सीधा-सादा वेष, अपने में भ्रमित—संकुचित, किन्तु विनम्र ! मृदु-भाषी इतना, मानो मधु-पराग। दिखावे और बड़प्पन से उसे घृणा थी। लेकिन भाभी का स्वभाव इसके सर्वांश प्रतिकूल था। उन्हें

जितना अपने पहिरावे से शौक था, उतना सम्भवत: जीवन की और किसी चीज से नहीं। आते ही उन्होंने घर में परिवर्तन की बाढ़-सी लादी।

रसोई-घर बदल कर एक रेस्तराँ बन गया। काठ के पाटों और शीतल पटियों के स्थान पर क्रमश: मेज कुर्सियाँ और रक्राबियाँ आगईं। खाने में जो परिवर्तन होना आरम्भ हुआ, तो दाल और तरकारियों का स्थान मटन-चॉप, केक्स, डबलरोटी आदि चीजों ने ले लिया। नितीन ने यह सब देखा, और चुप रहा। भाभी अपने साथ 'परिवर्तन' लाई थीं, जो नितीन के लिए ग्राह्य नहीं था। लेकिन वह बीच में हस्त-क्षेप करना नहीं चाहता था। लेकिन आज डायरी पढ़ने के पश्चात् मैं तो यही कहूँगा, यदि भाभी ने किंचित् भी ध्यान नितीन के स्वभाव की ओर दिया होता, उन्होंने नितीन के पद्-चिह्न का अनुगमन करना प्रारम्भ किया होता, तो घटना को जो विस्तार आज मिला है न मिला होता।

मैं मानता हूँ नितीन का प्रेम किसी और से था, लेकिन क्या यह सम्भव नहीं था कि भाभी के स्वभाव की अनुकूलता उस पर विजय पालेती? दोष भाभी का ही है। यदि उन्होंने विद्या के दर्प का, अपने पिता के गौरव और धन के सम्मान का नितीन पर प्रयोग न किया होता, तो नितीन को झुकाने में देर न लगती। नितीन जीवन में आई प्रेम-व्यथा को वर्तमान की राख तले छिपा देता। उसमें किसी भी तकलीफ को स्वयं सह लेने का सद्गुण था, वह परिमाण या माप-रहित अनन्त सागर की भाँति था। मैं तो आज यही कहूँगा कि भाभी के स्वभाव ने, उनके

थोथे अहम ने--उनकी संकुचित भावनाओं ने नितीन के सेक्स को उभार दिया। और जब उसने अपने चारों ओर असफलताओं के दुर्गम पहाड़ देखे, तो परिश्रान्त पथिक की भाँति सिर थाम कर बैठ गया। कार्य-गति रुकी और उसने अपना अन्त करलिया।

अभी-अभी गत सप्ताह मुझे सीतापुर में उसकी चिट्ठी मिली थी। हरेक पंक्ति, हरेक शब्द उस चिट्ठी का अव्यक्त-उलझा नितान्त हृदय-विदारक था। चिट्ठी से घटना पर प्रकाश पड़ता है, इस कारण उसके कुछ अवतरण मैं नीचे दे रहा हूँ।

'मैं अपने चारों तरफ़ एक अजीब भयानक खोखलापन अनुभव कर रहा हूँ। जीवन-रस निचुड़े हुए आम के छिलके की तरह दिख रहा है। क्या होने को है, यह अभी भी नहीं समझ पाया हूँ। होनी का खेल है, न जाने कब क्या होजाय। तुम्हें भाग्य पर विश्वास नहीं है—मैं जानता हूँ। लेकिन कटुतम यथार्थ की ठोकरों ने मुझे तो भाई कट्टर भाग्यवादी बना दिया। न जाने क्यों तुम्हारे व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए भी मैंने अपने अन्दर इस विश्वास का कोष सञ्चित कर लिया है कि जो कुछ होता है उसके क्रम के साथ किसी महान् शक्ति का हाथ रहता है। उस शक्ति की आज्ञा की अवहेलना जीवन पर्यंत नहीं की जासकती। यदि मनुष्य में इतना बल होता कि भाग्य की रेखाओं के विपरीत अपने बल और कर्म द्वारा सफलता प्राप्त कर सकता, तो वह विवशता और विषमता की परिधि से परे सशक्त महान् महा मानव होता। लेकिन भैया बात ऐसी नहीं है। पग-पग पर असफलताएँ हैं, हमारी कमजोरियाँ हैं, जिनका निवारण नितान्त असम्भव है।

हम लाख चाहें यह न हो, वह न हो, लेकिन हमारी भावनाओं-हमारी कल्पनाओं का क्या मूल्य ? प्रति क्षण प्रकृति से मिली यह अपूर्णता हमें काँटे की तरह चुभती है। हम कसक महसूस करते हैं, रोते हैं, चीखते हैं, सफलता के लिए आँखों के पाँवड़े बिछाते हैं, लेकिन सब व्यर्थ। मैं जीवन के विषय में जितना सोचता हूँ, नई उलझनें मुझे नाग-पाश में कसती जाती हैं। प्रतिपल मेरे अन्दर का असन्तोष काल-सा विकराल रूप धारण कर अपने भुज-दण्डों में कस प्राण हर लेना चाहता है। सही तो यह है, हम सब जीवन में भाग्य के खेल भर हैं। और जीवन गत, वर्तमान और भविष्य के खेलों का सामूहिक नाम है। विगत हम खेल चुके है, वर्तमान के साथ हम खेलने में रत हैं और भविष्य सामने के शून्य अन्धकार में लिप्त हमारे सामने रहस्य है। हमारी महत्वाकांक्षाएँ इस भविष्यगत रहस्य की अनुकूलता पर ही निर्भर रहती हैं। यदि भविष्य के खेल हमारे अनुमान की अनुसार यर्थाथ की कसौटी पर सत्य उतरें, तो सफलता मिल गई। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो आशाएँ कुचल गईं असन्तोष बढ़ा, जीवन भार बन गया। यानी यह भविष्य का लेखा-जोखा ऊँचे बेर के पेड़ पर लगे फल के समान है, जो दूर है-अतीव दूर है और उस दूरी पर वह लाल-लाल मधुर और शोभनीय लग रहा है। किन्तु हमें क्या पता वास्तव में उसमें कीड़ा लगा है, वह त्याज्य है, वह बुरा है, अथवा अपने रूप के अनुकूल मीठा ? भैया, मैं नहीं समझ पारहा मानव की जिज्ञासा का चरम-बिन्दु भविष्य में ही क्यों केन्द्रित रहता है।

भाई मैं दुखी हूँ—मैं भारी उदास हूँ। मृत्यु प्रति-पल सिर पर कच्चे धागे के सहारे लटकती तलवार-सी दिखती है। लेकिन इतना तुम अपने इस क्षुद्र नितीन पर विश्वास रखो, कि यदि उसे जीवन से भी मूल्य चुकाने का प्रश्न आया, तो वह अपने सम्मान के लिए उसकी किंचित भी परवाह नहीं करेगा। और सुनो, परिस्थितियाँ इतनी ही कठिन और संकीर्ण हैं, जिनसे मैं आज गुजर रहा हूँ। अपने नितीन को अब अपने हाथ से सदैव खोया ही समझो। मन की बात तो, जीवन में जो ग्रन्थि डाल गई है, न खोलूँगा। क्योंकि अब तक का मेरा विगत तुम्हारे लिए खुला इतिहास रहा है। और आज मैंने भी रहस्य की - छिपाव की दीवाल खड़ी कर दी। यह कैसे सोचलूँ कि यह दुराव की भावना तुम्हें खलेगी नहीं। इसके लिए लेकिन तुम्हे अपने इस नितीन को सोलहों आने क्षमा करना होगा, बिना किसी तर्क के? लेकिन इतना समझलो, यदि मैं तुम्हारे सामने से संसार की असीमित विस्तृत भूमि पर रज-कण बन कर खोजाऊँ, तो घर का बोझ तुम्हारे जिम्मे ही रहेगा। आगे अब कुछ नहीं लिखना—लिखने की भावना मुझे अपने में विकृत और पंगु लग रही है। और सोचता हूँ अब लिखूँ भी क्या? जो कुछ होना है सामने आही जायेगा।'

और इसके तीसरे दिन नितीन की मृत्यु की दुख-भरी घटना का संवाद मिला। नितीन की मृत्यु से मुझे कितनी पीड़ा पहुँची, यह व्यक्त करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मुझे अपने दैनिक क्रम में ऐसा प्रतीत हुआ मानों एक क्षण के लिए भीषण भूकम्प आया और उस कम्पन के साथ ही मेरे अरमानों की अन्ततः

गगन-चुम्बी अट्टालिका गिरपड़ी, उसका वैभव और विशालता पद-रज में परिवर्तित हो गई। यह ऐसी चोट थी जिसे मैं सह न सका, बीमार पड़ गया। ऐसा कि चारपाई पकड़ ली। पूर्ण स्वस्थ तो अभी भी नहीं, कभी अब इस जीवन में हो भी सकूँगा, इसमें भी सन्देह है। हाँ, कर्तव्य की प्रेरणा ने मुझे चलने-फिरने योग्य अवश्य बना दिया है। और आज मैं नितीन के घर पहुँच गया हूँ। घर पहुँचते ही केवल माँ को पाया है और नितीन के अभाव में उसाँसे भरते घर को; भाभी मुझे नहीं दीख पड़ीं। माँ ने जिन करुण शब्दों में घटनाओं के क्रम को मेरे सामने रखा उससे मेरा रहा-सहा साहस भी टूट गया है। मेरे अन्दर कुरूपता से भरी वेदना-मिश्रित शिथिलता का प्रवाह असीम वेग से हो रहा है, मेरे अवयव सन्न पड़ गये हैं। मेरे सामने माँ की दी हुई नितीन की डायरी है। और उसमें लिखी टेढ़ी-मेढ़ी ज्ञान भरी बातें-नितीन की दुख भरी कहानी और.....और.....। डायरी के पृष्ठों से:—

ता० ३-२-४१

मेरे घर के पीछे एक खिड़की है। उस पर सफ़ेद कपड़ा टँगा हुआ है। कपड़ा पर्दा है—एक छिपाव है—एक दुराव है। मेरा न जाने क्यों इस पर्दे के प्रति आकर्षण बढ़ता जारहा है। मन चाहता है इस पर्दे के भीतर का रहस्य जानूँ कि आखिर क्यों यह पर्दा टाँगा गया है। गत दो सप्ताह से इस पर्दे के प्रति मेरा आकर्षण, मेरी जिज्ञासा और पर्दे के पीछे के रहस्य खोजने की भावना अतीव तीव्र हो उठी है।

आज उस पर्दे का एक सिरा हिला। मैं अपने ऊपर के कमरे

में बैठा थोरो की 'वाल्डेन' पुस्तक पढ़ रहा हूँ कि मेरी आत्म चेतना सजीव हो उठी। मैंने उस ओर एक-टक देखना प्रारम्भ कर दिया। पर्दा और उठा, लीजिए बिलकुल उठ गया। एक छाया ने उसके अन्दर से झाँका। लेकिन सामने ही एक पर-पुरुष को एक टक अपनी ओर देखते रहने के कारण वह टल गई। मुझे ऐसा अभास मिला मानों हृदय-तंत्री के तारों को किसी ने झकझोर दिया और तार क्रन्दन कर उठे—झन.....झनन ...न ..

यह दूसरा दिन है। बनाव शृंगार से मुझे सख्त चिढ़ है। जहाँ कहीं भी बनावट है मेरी अरूचि है। एक घूँटों तक का पंचा पहिने मैं एक लेख लिखने में व्यस्त हूँ। लिखते-लिखते मैंने अपने सिर पर कुछ बोझ-सा लदा अनुभव किया, थकान कुछ शरीर में पैरती-सी प्रतीत हुई। मैंने क़लम रख दी। लेकिन अनायास मेरी निगाह उस खिडकी की ओर उठ गई।

खिड़की का पर्दा उठा हुआ है। और एक स्वस्थ, सुन्दर स्त्री-काया मेरे सामने है। खिड़की के अन्दुरूनी भाग में अँधकार है इसलिए कुछ अधिक न दिख पाया। इतना अवश्य देखा, दो आँखें मुझे घूर रही हैं। सम्भवतः मेरी तल्लीनता इसका कारण हो लेकिन जैसे ही मैंने उनको और देखा, संकोच बढ़ा, काया विकम्पित हो उठी। अधिक उसका टिकना असम्भव था, वह थिरक कर अँधेरे में विलीन हो गई।

१०-३-४१

नित्य का यह क्रम-सा बन गया है, कि खिड़की की ओर चोर की तरह घण्टो लुक-छिप कर देखता रहूँ। उधर भी ठीक यही स्थिति है। जब कभी इस अभिनय के विषय में सोचता हूँ,

तो नीलाकाश के विस्तृत-क्षेत्र में तारागणों की लुका-छिपी का दृश्य सम्मुख आ जाता है—यह तारा यहाँ विलीन हुआ और····· और·····अरे·····रे यह यहाँ उदय भी हो गया। कभी-कभी ऐसा भी होता है, कि दोनों की आँखें एक साथ एक केन्द्र-बिन्दु पर मिलकर अपने आप इस आत्मिक-स्पर्श से हुई-मुई की भाँति नत होजाती हैं। लाख चाहो कि ये आँखें जिन में तेज बरसाने की शक्ति है, क्रोधावेश में मनुष्य को भस्मसात् करने का तेज है एकबार ऊपर उठें और सामने की कोमल-कान्त सजीव मानवीय पदावली का मनन करें, किन्तु इन में तो पलक तक मारकर विश्राम लेने का बल नहीं।

अभी अभी उन्होंने मेरी ओर देखा था। मेरे मन का भेद यह है-मैंने भी मन भर कर उनकी ओर देखा था। किन्तु हम दिखा रहे थे-न हमने अभी तुम्हें देखा और न इसके पूर्व कभी! यह चुनौती थी कि तुम यदि अपने को कनखियों से देखने में चतुर समझती हो, तो हम भी तिल भर तुमसे कम नहीं—निकलेंगे सवाये ही? पुरुषत्व अपने सवाये होने की दलील पेश कर रहा था।

२१-५-४१

प्रेम के विषय में संसार में सदैव विभिन्न मत रहे हैं—सिद्धान्तों में भी तीखी विषमता और मतभेद रहा है। कुछ व्यक्ति हैं जो प्रेम की सफलता त्याग में देखते हैं—कुछ उसकी पूर्ति वासना में और शरीरिक-सम्बन्ध में देखते हैं। जिनके सामने त्याग का आदर्श है, वे तिल-तिल अपने को मिटा कर भी समय

आने पर त्याग का ही अनुकरण करते हैं। वे उसमें ही अपने प्रेम का मूल्य आँकते हैं, तथा वेदना और पीड़ा में ही सुख अनुभव करते हैं।

मैं नहीं जानता उपरोक्त दो मार्गों में से मुझे किसका सहारा लेना होगा।

७-८-४१

बात नित्य उलझती ही जाती है। मैं जानता हूँ वे मुझ से प्रेम करती हैं। और मेरा तो सब कुछ उन पर निछावर है। लेकिन प्रकृति ने तो हमें अ-समान बनाकर भेजा है। वे मुसलमान हैं। लेकिन मन का तर्क कहता है, तो क्या हुआ। प्रेम में धर्म-बन्धन बाधक नहीं हुआ करता। उसमें तो यह भी चलता है और वह भी! कल मैंने उनकी बुनी हुई स्वेटर और जा-नमाज़ देखी थी। कितनी सफाई थी बुनने में-कितनी कला थी बेलबूटे निकालने में? मैं मन्त्र-मुग्ध-सा देखता ही रह गया।

मैं सोचता हूँ-क्या हमारा मिलना सम्भव है! बीच में 'विभेद' की लम्बी चौड़ी खाई है। भयानकता और असफलता इस खाई की विशेषताएँ हैं। क्या उनके पिताजी यह चाहेंगे और क्या मेरी माता ही ऐसा सब कुछ होने देगी। मैं तो कुछ भी नहीं समझ पा रहा? भय इस बात का है-भेद न खुल जाये, अन्यथा अनर्थ हो जायेगा। मेरे लिए दुनिया अगर एक बात बुरी कहेगी, तो मैं दो उसे सुनाने में भी समर्थ हूँ। लेकिन उन्हें जो यातनाओं का, कठोर नियंत्रणों का भीषणतम सामना करना पड़ेगा। क्या स्वयं को वर्तमान से हटालूँ—क्या उनके प्रेम को-

उनकी स्मृति को विस्मरण के गर्त में छिपा दूँ—और क्या यह सम्भव है ?

१३-११-४१

माँ का आदेश है कि मुझे अगले महीने विवाह कर लेना होगा। वे घर में अपनी जाति की कुलीन कन्या चाहती हैं—वृद्धावस्था है, हाथ-पैर थक गये हैं। अब इन से काम चलता नहीं। इसीलिए किसी के सहयोग की आवश्यकता है। वे मेरी कोई भी बात इस विषय में सुनना नहीं चाहतीं। जितना मैं समझाने की चेष्टा करता हूँ वे ज़िद पकड़ती जाती हैं। सुना तो यह भी है कहीं उन्होंने शादी की बात भी पक्की करली है। उन्हें अपने इस खाटे नितीन पर इतना अधिक विश्वास है कि उन्होंने उससे इस विषय में कोई बात तक पूछना ओछापन समझा।

माँ कह रही थी जहाँ शादी की बात तै हुई है, वे अमीर आदमी हैं। लड़की इस वर्ष बी० ए० की परीक्षा में सम्मिलित होरही है। और मैं..... ..खैर मुझे इन बातों से क्या मतलब ! यह माँ की खुशी का सौदा है। क्या मुझे इस समय अपने मन का भेद माँ पर प्रकट करना उचित होगा। नहीं-नहीं मैं ऐसा कभी न करूँगा—कभी न करूँगा ! उनकी आशाओं पर तुषार-पात हो जाऐगा। सम्भव है कहीं वे, जीवन की बाज़ी ही इस दुख से निवारण के हेतु न लगा बैठें। नहीं मैं अपने स्वार्थ के लिए यह सब न करूँगा। मैं अब कभी उनके विषय में न सोचूँगा—कभी नहीं, कभी नहीं ! आज ही ऊपर का सारा अपना सामान उठवा कर नीचे के कमरे में ले आता हूँ।

जानता हूँ इससे उन्हें असीम दुख होगा। वे मुझे भीरु और स्वार्थी समझेंगी, और भी न जाने क्या-क्या ? लेकिन मैं विवश हूँ--मैं मजबूर हूँ।

१-१-४२

शादी होगई। माँ प्रसन्न हैं। मैंने भी प्रयत्न किया है कि माँ की प्रसन्नता में अपनी खुशी प्रतिबिम्बित कर दूँ। लेकिन यह देवी और मैं ! मानो नूतन और पुरातन का मिलन है। मैं जानता हूँ वह मुझ से अधिक क्वालीफ़ायड है, अधिक आधुनिक है और अधिक शिष्ट भी ! लेकिन भला मैं क्यों असन्तोष का कारण समझ लिया गया। यह स्पष्ट है मखमल में खादी का पैबन्द लगा दिया है, जिसका मेल नहीं मिलता- कभी नहीं मिलेगा। जब कभी उसकी उदासीनता और असन्तोष को देखता हूँ तो विगत स्मृतियाँ जग उठती हैं। कभी समझने का प्रयत्न करता हूँ, माँ की भूल हुई। मैं इसके योग्य नहीं था, तब मुझे अपना पुरुषत्व धिक्कारने लगता।

८-७-४२

एक दिन के लिए भी मैं इसे अपना नहीं सका हूँ। कभी-कभी तो उसके व्यंग इतने कठोर होजाते हैं, कि हरेक चीज़ असह्य सी दिखती है। घमंड की भी हद होती है। मैं अपनी स्थिति उसके सम्मुख स्पष्ट कर चुका हूँ। मुग़ालते की बात मेरी ओर से न थी, न है। लेकिन मेरे प्रश्न के उत्तर में जो कुछ कहा गया.....छि .....छि.....उसे मैं कैसे लिखूँ। जीवन वैसे ही भार था, अब सत्य ही मानसिक

अशान्ति बढती ही जाती है। सब कुछ सामने का अन्धकारमय दिखता है।

मैं पुरूष हूँ। प्रकृति से मुझे स्त्री पर शासन का अधिकार मिला है लेकिन में उसे प्रयोग में नहीं लाऊँगा। वह जो कुछ चाहे करे। वह स्वतन्त्र है, हवा की तरह उन्मुक्त है। रही बात मेरी..... . मैं तो अपना सर्वस्व खो चुका हूँ। बाज़ी लगाई थी, चली गई। अब रहा ही क्या, जिस पर अरमानों का भवन निर्माण हो। निराशा आज भी है और कल भी रहेगी, जिन्दगी भर रहेगी। और.....और..... ।,

मैं अब आगे पढ़ न सकूँगा। दो पृष्ठ और हैं और बाक़ी के फटे हुए हैं। उन दो को भी पढ़ना मेरे लिए असम्भव है। डायरी मैं बन्द कर रहा हूँ। भारी उदास हूँ—मैं विकृत हूँ।

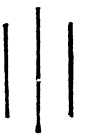

बशीरन

बसन्ती पीला दुपट्टा, धारीदार केले का सलूका और चुस्त चूड़ीदार पाजामा! काली-काली बड़ी आबदार आँखें, जिनमें दाज के चाँद-सी कमानदार महीन बारीक काजल की रेखाएँ! गोल चेहरा, काश्मीरियों की तरह उठी हुई नाक, सच्चे मोतियों सी पानीदार दाँतों की पंक्ति—पूर्णिमा की चाँदनी-सी चमकीली और उज्जवल! गेंहुआ रंग, दुपट्टे के अन्दर बल खाती पतली नागिन-सी बालों की चोटी और कानों में इमीटेशन डायमण्ड कटिंग के घुन्दे! सुडौल बदन, कच्चे कैथ की तरह उठी हुई छातियाँ, कुछ उभरा-उभरा-सा बदन। यह है सोलह बरस की बशीरन जिसने अभी कुछ समय पूर्व से अपनी नानी 'कल्लो' की गंडेरियों की दुकान सम्हाली है। लेकिन जब से दुकान पर बैठना शुरू किया है, ग्राहकों का यह हाल है कि एक आवाज और दस आदमी!

कोई कहता—

'बशीरन की गड़ेरियाँ तो बिलकुल चाशनी में पगी होती हैं।' और वह मुस्करा देती।

दूसरे साहब फ़रमाते —

'क्यों बशीरन, इस साल ऊख की मेंड़ में गुलाब की खाद देदी क्या—वाह क्या गड़ेरियाँ हैं, यहाँ खाओ और वहाँ तक महके! और बशीरन यदि बंकिम दृष्टि तरेर कर हँस देती, तो कहने वाले सज्जन निहाल होजाते। दिन भर दुकान पर ग्राहकों की चुहल-बाजी हुआ करती और बशीरन के मुस्कराने का, हसने का और कनखियों से तरेरने का क्रम भी चलता रहता।

कुछ दिनों से एक बड़े मियाँ इस सोलह बरस की बशीरन पर जरा ज्यादा मेहरबान होगये हैं। हमेशा तलवार आपकी गरदन में लटकती रहती है, एक हाथ में कीलों-जड़ा लट्ठ और पैरों में सलीमशाही जूते के फुदने लटकते विचित्र से लगते हैं। इन साहब ने एक हफ्ते में ही अजीब-अजीब हरकतें बरती हैं। उदाहरण के लिए, कभी सामने की पुलिस चौकी पर जाकर 'हीरा-रांझा' गाने लगते हैं और कभी डटकर चौकी के सिपाहियों को तलवार और लाठी के पेंतरे बताने लगते हैं। और प्रत्येक पेंतरे के साथ किस्से अद्भुत और मनोरञ्जक; अमुक जो पेंतरा है वह उनके वालिद बुजुर्गवार के उस्ताद ने ऐन इनायतन बतलाया था। और जो अमुक पेंतरा है, एकदम खालिस दूध की तरह बिन्नौटी हाथ है। रियाज हो तो हजार आदमियों में से निकल जाओ। कहने लगे—

'अजी गई साल जो झगड़ा हुआ था, इत्तफाक से मैं भी फँस गया। लेकिन रूमाल में पैसा बाँधकर वह हाथ फेंके कि

बस ! जहाँ हमलावर की कनपटी पर पैसा पड़ा कि वहीं चित्त और फिर तो एक इधर चिल्ला रहा है, दूसरा उधर और वह जो अभी लट्ठ सम्हाले हमला करने आ रहे थे उनका लठ यह पड़ा है और वह हाथ को लहलाते तीर की मानिद चले जारहे हैं।'

और तभी उनकी नज़र एक बार अपने बदन की उठान पर गई और दूसरी बार सामने की हँसती बशीरन पर! और वे बाग़ बाग़ हो जाते हैं। एक दफ़ा आपने जोश में जो तलवार म्यान से निकाली कि अँगूठा ज़ख्मी होगया। तलवार हाथ से छूट पड़ी और आप बशीरन की दुकान पर जा पहुँचे—

'अरे ज़रा पानी डाल।'

और बशीरन ने हँसते हुए कहा—

'बड़े मियाँ, यह तुम्हें क्या सूझा करता है? मियाँ अल्लाह-अल्लाह करो, इन हाथों में अब तलवार सम्हालने की कुव्वत नहीं रही।'

और बड़े मियाँ को ऐसा मालूमहुआ जैसे किसी ने उन के दिल में छुरा भोंक दिया। बस बरस ही तो पड़े—

'अरे ज़ालिम, क्यों जले पर निमक छिड़क रही है। तेरी ज़रा नज़रे इनायत होजाये, तो आसमान के तारे तोड़ लाऊँ। समझा क्या है? पठान हूँ, खुर्जे का!

और बशीरन ने तभी दुकान पर खड़े ग्राहक से पूछा—

'कितने की?'

'तीन पैसे की'!

और वह तौलने लगी।

दिन बीतते जाते हैं, बशीरन के गले में चाँदी की हमेलें हाथों में कड़े और भुजाओं में बाजूबन्द चमकने लगते हैं। गालों की लाली ज़रा और तीखी पड़ जाती है और सीना पके आम की तरह गदर हो जाता है। बड़े मियाँ अब बशीरन की दुकान पर ही नज़र आने लगते हैं। एक दिन नारियल की गुड़गुड़ी लिए हुए और धुँए के अम्बार छोड़ते हुए कहने लगे—

'बशीरन, सच तेरे बिना नींद नहीं आती। रात भर पलंग पर गुज़री। जाड़ों की यह सूनी बड़ी रात, चौदहवीं का चाँद, ऊँचे ऊँचे नीम के दरख्तों की नई-नई कोपलों के बीच से झीनी झीनी फूटती चाँदनी और यह बसन्ती मौसम ?'

और एक लंबी साँस लेते हैं।

एक दिन कहने लगे—

'तूने सुना, लड़ाई अब हिन्दुस्तान की तरफ बढ़ी चली आरही है। अरे, गई लड़ाई में मैं भी गया था, बशीरन ?'

बशीरन फटी फटी आँखों से देखत है--जिज्ञासा उसकी आँखों के कोयों से रिस पड़ती है---

'लड़ाई पर, लेकिन लड़ाई पर गया कोई लौटा है ? मेरा मामू जाद भाई भी गया था। क्या नाम है ... ए उस मुलुक का..... मैसो पुट मियाँ ? वहीं लड़ा था। खोबे भर नगद चार बीसी रुपये मिलते थे ? एक दिन अंग्रेज अफ़सर की चिट्ठी आई कि वह मारा गया। नानी सुनाती थी कि एकबार उसने चिट्ठी में लिखा था—

'जर्मन लोग बड़े खूँख्वार होते हैं। पत्थर-सा सख्त दिल होता है। अपने भाईयों को कुचलते हुए आगे बढ़ते हैं। लाशों को तो कुम्हार की मिट्टी की तरह रौंदते चलते हैं। ज़िंदगी से, यों समझो, उन्हें दुश्मनी होती है।'

या खुदा !'

और वह बोझिल लम्बी साँस लेती है। छातियाँ रबड़ के हवा भरे गुब्बारे की तरह फूल जाती हैं। वह अपनी महाभीत किन्तु आकर्षक आँखें बड़े मियाँ के चहरे पर फैला देती है। बड़े मियाँ अपने सीने की तरफ़ देखते हैं, और नारियल नीचे रख देते हैं ? फिर वे बोले—

'बशीरन, मैंने बड़े-बड़े जिरमन अफसरों को हेकड़ी भुलादी—देखती है यह रान का दाग़ ? इसका बड़ा खौफनाक किस्सा है। बिल्जियम में गोली चली, जिरमन फौजें आँधी की तरह बढ़ी आती थीं। उनके आगे-आगे मशीनगनें थीं, बराबर में टैंक ट्रक्स और पीछे हथियारों से लैस फौजी दस्ते-और दस्ते ? हमारे कप्तान ने हिन्दुस्तानी बटालियन को आगे किया। हुक्म दिया कि हम मशीन-गनों पर हमला बोलदें, और बस तुम यही समझलो कि हम लोगों ने मलिकुल-मौत की तरह मार्च किया तो मशीनगनों के सामने थे। उधर से मशीनगनें गरज रहीं थीं, मानों खुदा का कहर नाज़िल हुआ, टैंक हमारे आदमियों को पीसते हुए आगे बढ़ें। और हवाई जहाज़ों की घर-घराहट के बीच कान फाड़ देने वाले बम बरसने लगे। और हम थे कि आँख बन्द किए बढ़े चले जा रहे थे ? हमारे कप्तान ने आगे बढ़कर हुक्म दिया—

'फ़ायर'

और हज़ारों बन्दूकें मशीन गनों और टैंकों की सोध में हुई और गरज उठीं – धाँय – धाँय '

बशीरन ने पटाखों की आवाज़ से डरे हुए बालक की तरह अपने कान भय से बन्द कर लिए और सहमी आवाज में कहा –

'बस-बस बड़े मियाँ अब बन्द करो।'

और बड़े मियां ने एक बार अपनी मूछों में फिर छल्ला बनाया और बोले –

'अभी से कहने को मना कर रही है। अभी तूने सुना ही क्या ? मैं जो कह रहा था कि यह दाग़ कैसे लगा सो तो तूने सुना ही नहीं।'

और बशीरन ने बेचैनी प्रगट की। आँखें डब-डबा आईं। शायद वह सोच रही थी कि उसका मामूजाद भाई भी ऐसी ही किसी बेरहम गोली का शिकार हुआ होगा। वह एक बार बड़ी ग़ौर से बड़े मियाँ की रान के हथेली के बराबर दाग को देखती है और फिर चुप-चुप इधर-उधर पड़ी-पड़ी गँडेरियां का इकट्ठा करने लगती है। बड़े मियाँ ने फिर कहना शुरू किया, खून के परनाले वह निकले। हर पल हज़ारों आदमी गाजर और मूली की तरह गिरते जाते थे। जरा ज़ख्मी हुआ, गिरा, कि गया। मशीनगनें हमसे सिर्फ पचास-गज़ दूर रह गई थी। कप्तान ने आगे बढ़ कर फिर हुक्म दोहराया--

'फ़ायर'।

और फिर बिजलियाँ कड़क उठीं। एक साथ बँधी आवाज़ हुई 'धाँय' और हज़ारों आदमी ज़मीन पर सो गये। जिरमन दस्ते पीछे हटो। लेकिन पीछे हटें हटें कि उन्होंने फिर एक बाढ़ मशीन गनों की छोड़ी। टैंक आगे बढ़े। और हम लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि हम लोगों के पैर उखड़े, अब उखड़े! लेकिन बशीरन, खुदा का हम बन्दों पर करम था। आगे बढ़कर हमने मशीन गनों पर कब्ज़ा कर लिया। लेकिन तभी एक जिरमन ने जो एक टूटे मशीनगन की ओट में बैठा था मौक़ा पाकर मेरे संगीन घुसेड़ दी-देख इस जगह! ज्योंही मैंने उसकी तरफ मुँह किया, कि शैतान के बच्चे ने फ़ायर कर दिया। लेकिन उस वक़्त तक हमारा मशीन गनों पर कब्ज़ा हो चुका था। उसके पीछे खदेड़ दिए गये थे। छिपा हुआ जिरमन जिसने मुझ पर आगे से वार किया था, पकड़ लिया गया था। और वहीं से मैं एम्बुयुलेन्स कार में अस्पताल भेज दिया गया। अरे वहाँ की दुनिया की तुझे क्या सुनाऊँ? रात भर नींद न आयेगी, डरके मारे काँपती रहेगी। उफ़, वे खौफ़नाक चहरे?.....'बशीरन ने अवरोध किया। उसने नमाजियों की तरह दोनों हाथ ऊपर उठा कर कहा—

'बस, बस अब क़रम करो, बड़े मियाँ। मुझ से अब नहीं सुना जाता। खुदा जाने उसने यह कैसे बन्दे पैदा किये हैं, जिनमें दरद, रहम और इन्सानियत तो दिखती ही नहीं।'

एक दिन बशीरन मेरे घर आई। उस दिन वह और दिनों की अपेक्षा अधिक प्रसन्न दिखती थी--हर्ष उसके अवयवों को गुदगुदा कर फूटा पड़ता था। उसने मेरे पास आकर कहा—

'इसबार दुकान का किराया और लेलो।'

मैंने कुछ हतप्रभ-सा होकर पूछा —

'क्यों कहीं दूसरी जगह दुकान लेली है क्या ?'

उसने दुपट्टे के छोर से रुपए खोलते हुए कहा...

'नहीं बाबूजी, दूसरी जगह दुकान नहीं.....मेरा निकाह...,
वह शरम से कट कर रह गई। मैंने आश्चर्य से और उत्सुकता-
वश पूछा —

'कहाँ- किससे ?'

उसकी चंचल आँखें नाच उठीं। चहरे पर सेब-सी लाली फैल गई।
उसने एक बार शरमाई आँखों से मेरी तरफ़ देखा और उसका
सर नत होगया। मैंने विनोद के ढंग पर फिर पूछा —

'बताया नहीं किससे निकाह होगया।'

उसने बड़ी मुश्किल से हँसी और शरम से दबी अवरुद्ध धीमी
आवाज़ में कहा—

'उन बड़े मियाँ से, वे जो चौ...की... पर...'

और इस के बाद एक झटके से रुपए मेरे सामने फेंक कर वह
भाग गई।

× × ×

आज इस बात को पूरा साल भर होगया है। बशीरन की जगह
एक लुहार ने किराये से लेली है। लेकिन उस के बाद न तो शहर
में कभी बशीरन ही दिखी और न वे बड़े मियाँ ही ? लेकिन

एकान्त-चिन्तन के समय जब कभी मैं बशीरन के निकाह के विषय में सोचता हूँ, तो मुझे वह मनोविज्ञान का विचित्र रहस्य-सा जान पड़ता है, और मैं नहीं समझ पाता ऐसा उन बड़े मियाँ में क्या था ?—क्या ?

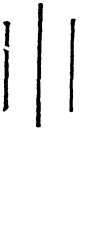

विभेद

मैं एक कायर की भाँति उन्हें छोड़कर दिल्ली भाग आया हूँ। लाख वहाँ रहकर चाहा उन्हें भूल जाऊँ। अपनी स्थिति को सम्हालूँ अपनी मानसिक शान्ति को, जो सामने की कटु परिस्थियों के बीच कहीं खोगई है, पुनः खोज निकालूँ और थाती-सी अपने अन्दर सम्हाल कर रखलूँ। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। जब जब सोचा और प्रयास किया परिणाम विपरीत ही हुआ। जानता हूँ उन्हें मैं नहीं पा सकता। वे मेरे लिए क्षितिज तक पहुँचने की कल्पना की भाँति थीं और हैं और फिर भी मैं उन्हें नहीं भुला पाता। अपने को कभी भी इतना समर्थ नहीं पाता है, कि जिस प्रेरणा को उन्होंने जन्म दिया है उसे निरर्थक समझकर कुम्हार के बिगड़े मिट्टी के खिलौने की भाँति रौंद दूँ नष्ट कर दूँ। मैंने प्रयत्न किया—और किया कि ऐसा ही हो जाय नहीं तो वैसा ही सही! लेकिन खेद तो इस बात का है कि न तो ऐसा ही हो सका और न वैसा ही! जीवन ने जो एकबार क्रम

बाँधा, तो निरन्तर बहने वाले झरने की तरह निसृत होता ही रहा । लाख बार मन को समझाया —

'रे मूर्ख, जो अपना नहीं, जिसे पाना और आकाश के तारे तोड़ना बराबर है फिर उसके पाने की बात ही क्यों—प्रयत्न ही क्यों ? क्यों निमेष-मात्र उसके विषय में सोचा जाय, क्यों चातक की तरह अऋतु में मेघ से पानी की आस लगाई जाय ?,

लेकिन कहा नहीं, विवशता ने मुझे बुरी तरह बाँध लिया था और आज भी मुझे अपने पाश में जकड़े हुए है । अब तो ऐसा कुछ लगने लगा है कि मृत्यु से ही उनकी याद से छुटकारा मिले तो मिले वैसे तो असम्भव ही है ?

मन उनसे लगी किसी की बात को भूलना नहीं चाहता। प्रतिक्षण उसमें जिज्ञासा और कुतूहल इस बात का रहता है कि जो उनसे लगा इस अपरिमित संसार की असीम महिमा के बिछौने पर फैल गया है, वह वहीं इधर-उधर ढुलक कर अगोचर न हो जाय । उनकी स्मृति से सम्बन्धित प्रत्येक चीज को ज्यों का त्यों सजीव बनाए रखता है । लेकिन आज तो स्थिति यह है मैं उन्हें छोड़कर भाग आया हूँ । ठीक जंगल में शेर को देखकर जो स्थिति मानव-मन की होती है, वही, जी हाँ, ठीक वही हालत उस रात मेरी थी ? उस रात·····उफ!

उस रात···मेरी विगत के गर्त में दबी स्मृति सजीवता पा रही है । मुझे याद है—मैं उसदिन अपने कमरे में बैठा लिख रहा था—मदहोश—केवल अपने विचारों में मग्न ! और उसी समय कमरे के सामने की खिड़की में आकर उन्होंने खाँसा ! मैं चौंक पड़ा ! फिर स्वस्थ होकर अपनी जगह से उठा और

उनकी ओर देखने लगा ! उन्होंने हाथ से नीचे आने का संकेत किया। मैं निश्शंक-निर्भीक उतरकर उनके घर के कम्पाउण्ड में चला गया । नीचे कम्पाउण्ड में खड़ी वे मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं । मैंने कहा—

'क्या विचार है ?'

उन्होंने अप्रत्याशित भाव से कहा—

'कैसा क्या ?'

मैंने ज़रा दृढ़ होकर कहना शुरू किया—

'तुम जानती हो, यहाँ हम सरिता के दो किनारों की भाँति हैं। सरिता का कल-कल निनाद भले ही इस बात की साक्षी देता रहे कि उसका अस्तित्व उस कूल से भिन्न नहीं है। लेकिन किनारे कभी मिल नहीं सकते। वे एक दूसरे से विलग हैं और वैसे ही दूर बने रहेंगे। यह तुमारे पिता और मेरी माँ, भला यह चाहेंगें कि हम और तुम एक लय हों—एक गति से जीवन-पर्यन्त साथ-साथ बह सकें। जानती हो, हमारे बीच जाति की कितनी गहरी खाई है । कितना विभेद है—कितना अन्तर है—कितनी विषमता है। इस दुनिया की बातों से यही प्रतीत होता है मानों हम आपस में इन्सान न होकर किसी वर्ग या जाति के अंश पहले हैं जिनमें समानता नहीं है और न कभी हो ही सकती है।

वह चुप थीं—वैसे ही खड़ी रहीं। और उस समय ऐसा लगा जैसे हवा बहते-बहते रुक गई हो और वातावरण चमक गया हो। मैंने फिर कहा—

'तो फिर हमारे मिलने का केवल एक ही मार्ग रह जाता है, कि हम इस जाति और भेद के संकटों से छुटकारा पाने के लिए कहीं दूर-सुबह घोंसले से निकले हुए परिन्दों की तरह पंख फड़फड़ा कर अपने में नवीनता भरकर उड़ चलें।'

वे चौंक उठीं।

'ऐसा हो सकता है--लेकिन कैसे? मेरी माँ-मेरे अब्बा! सफ़ आप नहीं समझते, आप नहीं समझ सकते। मैं तो इसके लिए तैयार हूँ कि घर वालों के ममत्व को त्याग दूँ, लेकिन आपके बूढ़े बाबूजी-माँ! उनका क्या होगा? वे हमारे यों चले जाने से निराश्रित हो जायेंगे-उनकी सूरज की किरणों-सी चमकीली आशाएँ नष्ट हो जायेंगी। वे हमें स्वार्थी कहेंगे।

'इन्होंने हमें नहीं देखा। हमारे सामने जाल-सी बिछा मुसीबतों को नहीं देखा। हमारी कमजोरी और विवशता का अनुचित लाभ उठाया। लेकिन इसके साथ-साथ मैं यह भी जानती हूँ—मैं आप के बिना जीवित नहीं रह सकती। सत्य जानिए रात को सोते-सोते चौंक उठती हूँ। उस समय मुझे ऐसा आभास मिलता है, मानो आप मेरे पलँग पर दबे पाँव आकर बैठ गये हैं और दोनों हाथों से मेरी आँखें बन्द करली हैं। और हमने आहिस्ता से कह दिया है—'आँखें बन्द करने वाले चोर को हमने पहिचान लिया है। हम उसे भली भाँति जानते हैं।'

और आपने हाथ आँखों से हटा कर एक हल्की सी चपत गाल पर रसीद करदी— 'पूरी जासूस हो।'

यह तो सपने हैं। कभी-कभी अपने और आपके विषय में सोचते-सोचते इतनी परीशान हो जाती हूँ, कि मनका क्रोध और आवेग संयम के बन्धन ढीले कर आँखों से दौड़ भागता है। सोचती हूँ—'इन कपाल की रेखाओं में क्या लिखा है ?'

और तभी ऐसा मालूम हुआ कि घर के अन्दर से कोई बाहर आ रहा है। मैं तेजी से निकल कर उनके घर के कम्पाउण्ड से बाहर आया और अपने घर क दरवाजे में घुस गया।

मैंने जुलैखा को लेकर जीवन को हर एक दृष्टिकोण से देखा था और तब मुझे आत्मनिर्णय के अनुसार अभाव की वास्तविकता जान पड़ी। मुझे प्रतीत हुआ, यह जो जुलैखा है इसका पाना अनिवार्य है। जुलैखा बिना जीवित रहना अपाहिजों-सा जीवन व्यतीत करना होगा। जितना सोचा उतना उलझता गया। विवेक परास्त हो अन्धकार के किसी शून्य कोने में भींगी बिल्ली की तरह दुबक गया। जुलैखा के साथ मुझे समस्त नारी-समाज को अपनी इच्छा के विरुद्ध विवशता सबल जान पड़ी। जैसे नारी का आज की समाज-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है। सब कुछ पुरुष है कर्ता भी-स्वामी भी! जुलैखा की करुण मूर्ति मेरे सामने थी—कितनी विवशता--अपार दुख की गहरी रेखाएँ; मानो काली घनी बदली चमकीले सूरज के ऊपर छितरा गई हो--उसके चहरे पर अंकित था। यह नारी और समाज के अपवाद ग्रस्त कटु प्रतिबन्ध! हम आपस में इच्छा रहते भी नहीं मिल सकते—धर्म में भेद है--स्त्री-पुरुष का भेद है। और तब मन ने विद्रोह का बिगुल बजा दिया। यह सब अन्याय है। यह समाज-यह स्वेच्छा--दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण, सब अमाननीय हैं-

धोखा है। पुरुष के अन्दर की खोटी प्रवृत्ति है। अन्दर से सामने के सामाजिक और धार्मिक विभेद को मिटाने की प्रेरणा किसी के आवाहन-सी मिल रही थी।

मैं विक्षुब्ध था। इस मानसिक-संघर्ष के द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचूँ, कि उनके कमरे में लालटेन का अस्पष्ट उजाला हुआ। एक काला रेखांकित छाया-चित्र! लालटेन की बत्ती बढ़ी, ऊँची हुई और उसके साथ-साथ उजाला भी फैलता गया। उनके कमरे की चीजें स्पष्ट हो गईं। छाया स्पष्टतर हो ज़ुलैखा के रूप में परिवर्तित हो गई। मैं भी अपनी जगह से उठा, लालटेन जलाई और उसे अपने सामने लेकर बैठ गया। ज़ुलैखा खिड़की में आई। मैंने रात को मिलने का संकेत किया। वह मुस्कराई और रात में मिलने का आश्वासन देकर चली गई।

नौ--दस--ग्यारह--साढ़े ग्यारह! सामने की खिड़की से खाँसने की आवाज़ आई। मैं कपड़े पहिन कर नीचे उतरा। घर में सब कोई सो रहे थे। मन एक अप्रत्याशित शंका से विकम्पित था। प्रति क्षण दिल बैठा-सा जा रहा था। अन्दर कसमसाहट एक बेचैनी के साथ बढ़ती जारही थी। सोचने समझने की बुद्धि पूर्णिमा के चन्द्रमा की चाँदनी में तारों की ज्योति-सी फीकी और निस्तेज हो गई थी। सामने की प्रत्येक चीज़ अस्पष्ट थी। साथ ही एक अजीब किस्म का धुंधुलापन-एक अजीबसा सूनापन मेरे अन्दर और बाहर के वातावरण में था।

मैंने तेजी से अपना घर पार कर उनके घर के कम्पाउण्ड

मैं प्रवेश किया। वे मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं। मैंने कहा—

'जुलैखा मैं तुम्हारे बिना जिन्दा नहीं रह सकता। जब तक तुम सामने रहती हो, मैं अपने अन्दर सजीवता और स्फूर्ति अनुभव करता हूँ। और इधर तुम आँखों से ओझल हुई नहीं कि एक भयानक अँधेरा-मसोस और बेचैनी बढ़कर मेरे अन्दर और बाहर की दुनियाँ को ढक लेती हैं। मैं दुखी हूँ-मैं भारी उदास हूँ, जुलैखा ? और इसी कारण मैं आज एक निर्णय के साथ तुम्हारे पास आया हूँ। चाहता हूँ तिल तिल जलने की अपेक्षा एक लौ बन कर जल जाना कहीं अच्छा है। जानती हो तिल तिल जलने में कितनी परेशानी होती है—कितनी तकलीफ होती है। कितना दुख--कितनी कसक होती है। यानी बबूल का लम्बा बड़ा काँटा है, जो हमारे बदन में बड़ी आसानी से चुभाया जा रहा है। और यह झूठा समाज-धर्म और यह धोखे-बाज रँगी दुनियाँ उससे मजा लूटती है। किसी की झोपड़ी में आग लगती है और कोई तापता है।

मैं तुम्हें सम्पूर्ण पा जाना चाहता हूँ, जुलैखा ?कहीं भी जुलैखा का अणुसा अंश भी किसी के साथ जुड़ता देखना नहीं चाहता। मेरे पिता को-मेरी माँ को किसी चीज की जरूरत नहीं है। उन्हें आर्थिक-संकट का सामना नहीं करना पड़ेगा। इतना उस बड़ी भुजा वाले दयालु भगवान ने उन्हें दिया है कि वे आराम से जीवन निर्वाह कर सकेंगे।'

जुलैखा ने धीरे से कहा—

'इस समय आप अपने आपे में नहीं हैं। कोई भी शीघ्र निर्णय करना हानिकारक हो सकता है। आप कृपया अभी घर जाइए।'

मैं क्रोध से काँप उठा। परिस्थिति को यथार्थ रूप में नापने की जगह बुद्धि-शून्य सा चीख़ उठा—

'समझ गया। आगे तुम्हें किसी तरह की तकलीफ न दूँगा। तुम्हें भय है घर का, मां-बाप का, प्यार-इज्जत और···और।'

मैं झपट कर दरवाजे की ओर मुड़ा कि ज़ुलैख़ा ने आगे बढ़ कर मुझे पकड़ लिया—

'यह मेरे साथ अन्याय है। आपने मुझे समझने में ग़लती की। मुझे अपना कभी कोई ख़्याल नहीं रहा है। मेरा तो उसी दिन सब कुछ आपका होगया, जिस .....'

उसकी आँखों में आँसू थे। संकोच बढ़ गया था। आवाज़ समन्दर की लहरों पर नाचती चाँदनी-सी विकम्पित और थिरक उठी थी। उसने फिर कहा—

'जो आप करने को कहें—मैं तैयार हूँ?'

मैं कुछ जवाब दूँ—बोलूँ-कुछ कहूँ, कि मैंने अपने को कुछ भयानक चहरों के बीच घिरा पाया। ज़ुलैख़ा के अब्बा ने आगे बढ़कर कहा—

'शर्म नहीं आती?'

अम्मी चिल्ला उठी!

'ख़ुदा ने तुम्हें इज्जत नहीं दी है।'

एक क्षण के लिए मैंने अपने अवयवों में तीव्र शिथिलता फैलती अनुभव की। लेकिन दूसरे ही क्षण मुझे स्थिति की वास्तविकता से साहस मिला। एक बिजली-सी मेरे सारे बदन में कौंद गई। मैंने आगे बढ़कर झुंझलाकर कहा—

'चुप रहो।'

और तेजी से कम्पाउण्ड से भागा-और भागा। सड़क पर आवारा कुत्ते भूख रहे थे। मैंने सड़क पार की, घर बहुत पीछे छूट गया था। लेकिन मैं बेतहाश भागा चला जारहा था। स्टेशन सामने था। पेशावर-एक्सप्रेस दिल्ली जारहा था। मैं निःसहाय सर्वहारा-सा उसमें जा बैठा।

कायरों की तरह भाग कर दिल्ली आया हूँ। आज यह लिखते हुए मुझे अन्दर से महसूस होरहा है कि मेरी आत्मा कितनी कमजोर है—कितनी निर्बल है। ज़ुलैखा के ऊपर क्या बीत रही होगी—यह मैं कल्पना करने भर से घबरा जाता हूँ। लेकिन मेरा विवेक मुझसे कह रहा है—'यह तुम्हारे क्षणिक आवेग का परिणाम है, जिसे तुम्हें जीवन-भर कलंक के रूप में झेलना पड़ेगा।

आह ? यह मैंने क्या किया ?

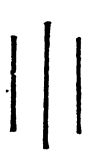

वातावरण कसमसाकर नवीनता पागया है। मैं हँसा और अपने काम में लग गया।

अभी मुश्किल से दस ही मिनिट हुए होंगे, एक सिरप भी पूरी न होने पाई थी कि फिर सामने का कमरा हल्की मर्मस्पर्शी ध्वनि से गूँज उठा—

'आसबे पथे आँधार नेमे, ताइ बले इ कि रहबि थेमे ?
ओतुइ बारे बारे ज्वालबि बाति, हय तो बाति ज्वलबे ना,
ता बले भावना करा चलबे ना।'
शुने तोमार.....

और फिर वे ही हथौड़े की चोट से कठोर शब्द सुन पड़े—

'शीलो .....ओ शीलो।'

गाना पुनः बन्द होगया था। लेकिन गाना बन्द होने के साथ ही मैंने अन्दर बेचैनी और असहनीय खोखलापन-सा अनुभव किया। कुछ देर ऐसा प्रतीत होता रहा कि अन्दर से जो कुछ रिक्त होगया है, उससे शिथिलता और उदासी-छाग्ई है जो अभी-अभी कुछ न करने देगी। मैंने माथे पर हाथ फेरा, सोचा, चाहा कि विचार-तारतम्य बध जाये, तो लिखने लगूँ। प्रयत्न किया और किया, लेकिन सब व्यर्थ! एक जगह कुछ लिखा और काट दिया, दूसरी जगह लापरवाही के कारण स्याही का एक बड़ा बिन्दु गिर पड़ा --- उस बिन्दु का आकार भी सहज ही बढ़ गया— बिन्दु के चारों ओर महीन मकड़ी के जाले-सी किरणे स्फुटित हो गई थी। मैंने फिर आँखें बन्द कीं---खोलीं लेकिन अपने पर बोझ का भार बढ़ता-सा ही अनुभव किया।

और तब एक अँगड़ाई लेकर उठा, दाहिनी ओर की पुस्तकों की अलमारी खोली—चाहा लिखूँ नहीं, पढ़ूँ! लेकिन उस दिशा में भी किताब निकालने--पन्ने उलटने और उन्हें पटकने के सिवा कुछ अधिक सफलता न पासका! यह विकी बम की 'हेलीना' गई, एलक्जेण्डर पुश्किन की 'सेलर्स-डॉटर', शॉ के 'कम्पलीट वर्क्स'! और ..... और .....? हार कर अपनी जगह पर आ-कर बैठ गया। ग्वालेक* को आवाज़ दी और दो 'ड व' × का पानी लाने का ऑर्डर दे फुलस्पीड से पंखा खोल कर आँखें बन्द किए बैठा रहा। सहसा एक 'चट' की आवाज़ हुई। मैं चौंका! सबसे पहले मैंने पँखे की गति की ओर देखा, लेकिन वहाँ कोई भी मुझे सन्देह का कारण नहीं मिला! उसी समय फिर 'चट' की आवाज़ सुनाई दी। मैंने देखा सामने गोख की रेलिंग से टिकी एक युवती तौलिया द्वारा अपनी लम्बी-घनी काली केश-राशि को झाड़ रही है। उसने तौलिया की बालों में साँप-सी कंडुली बाँधी और फिर खींच दिया। आवाज़ चट हुई और सफेद सफेद पानी की बूँदें मोती की तरह आस पास केशराशि से झटक कर, बिखर गईं, मानो श्वेत वर्ण बगुले ने पंख फड़फड़ा दिये और बूँदें धोमी फुहार-सी झड़ गईं।

युवती काले चौड़े बॉर्डर की सफेद धोती पहिने थी—शरीर पर वही धोती वक्षसे हो होती हुई पीठ तक पहुँच गई थी। और उस पांडु धोती पर काली-लम्बी-घनी केश राशि सावन की बृहद्-

---

* नौकर × बंगाल प्रान्त में नारियल के हरे फल को डाब बोलते हैं। वहाँ उसके अन्दर के पानी पीने की रिवाज है। उसका पानी मीठा सुस्वादु और स्फुर्तिप्रद होता है।

काय बदली-सी फहरा रही थी। उसने गुन-गुनाना और फिर गाना शुरू किया —

'शुने तोमार मुखेर बानी, आसबे घिरे बनेर प्रानी
बधु हय तो तोमार आपन घरे पाषाण हिया गलबे ना—
ता बले भावना करा चलबे ना।'

इस 'ना' को पंचम में भरते हुए उसने पीठ फेरी और मुझे एकटक अपनी ओर निनिमेष देखते वह सकुचा गई। उसकी वाणी 'ना' की अन्तिम मात्रा पर अवरुद्ध होगई। वह किनारे से टकराई हुई लहरों की भाँति क्षणभर-ठिठकी, एकबार अपनी बड़ी कजरारी आँखों से देखा, मानों इस अविलम्ब क्षणैक दृष्टिपात में ही दोनों प्यालियों का मद उड़ेल देना चाहती हो। और फिर दूसरे ही क्षण ग्रीष्म-ऋतु कालीन, मद प्रवाहित सरिता-सी अन्दर चली गई। अन्दर से फिर सरस ध्वनि आरही थी—

'बधु हय ता तोमार आपन घरे पाषाण हिया गलबे ना—
ता बले भावना करा चलबे ना।'

मैं तो जैसे उस संगीत में नहा कर नवीनता पारहा था, एकदम आत्म-विभोर था, कि उस समय मेरे सहायक मुकुलेशजी ने आकर कहा—

'कल 'पत्र' निकलेगा है। सम्पादकीय और योरोपीय महायुद्ध ·····अभी पूरा एक फर्मे का मैटर चाहिए।'

मैं अवाक्-सा शुक्लेश जी की तरफ देखने लगा। अनुज

स्वर में मेरे मुँह से केवल इतना ही निकला—

'पहले फर्मे का मेटर 'सम्पादकीय' योरोपीय महायुद्ध !'

शुक्लेशजी ने अपनी आवाज पर जोर देते हुए कहा—

'जी, आज शनिवार है और नियम के अनुसार कल पत्र प्रकाशित होना चाहिए।'

मैंने मनस्थिति ठीक करते हुए पूछा—

'और बजा क्या है ?'

'सवा-चार ! '

मुझे एक बार अपनी गैरजिम्मेदारी पर झुँझलाहट आई और फिर शुक्लेशजी की लापरवाही पर ? उनसे कुछ कहूँ कि सामने का कमरा सप्तम में गूँज उठा—

'बद्ध दुवार देखलि बले अमनि की तुइ आसिबे चले,
तोरे बारे बारे ठेलते हबे.....'

मैंने शुक्लेशजी से कहा—

'शुक्लेशजी इस बार इस फर्मे में न योरोपीय महायुद्ध जायेगा और न सम्पादकीय !'

शुक्लेशजी ऐसे चौंके मानो वी० टू के इस्पात पर उनका हाथ पड़ गया है, अंगुलियां गलने लगी हैं। उन्होंने अत्यन्त बोझिल स्वर से पूछा—

'फिर ?'

मैंने हँसते हुए कहा—

'पहले सच बताओ शुक्लेशजी, तुम्हारे जीवन में कभी कोई रोमेण्टिक घटना हुई है !'

शुक्लेशजी सिहर उठे, ऐसे, मानो पौष-मास में सुबह चार बजे हुगली में स्नान कर निकले हों। पहले तो उन्होंने नए घोड़े की तरह अपने पर हाथ ही नहीं रखने दिया, लेकिन हम भी उन्हें यूँ आसानी से छोड़ने वाले नहीं थे, अतएव अत्यन्त सकुचाते हुए उन्होंने कहा—

'देखिये मज़ाक न बनाइयेगा।'

हमने उन्हें सान्त्वना दी—

'आप निश्चिंत रहें।'

उन्होंने कहा—

'अभी उस दिन मल्लिक-गार्डन में मुझे सोने का एक इयररिंग मिला था। सामने ही मेरे कुछ औरतें जा रही थीं। मुझे सन्देह हुआ, सम्भवतः उनमें से ही किसी का हो। मैंने पास जाकर उनमें से एक से पूछा। उनमें से एक लड़की ने अपना कान टटोलते हुए बंगला में साथ की वृद्ध स्त्री को कुछ कहा और उस बुढ़िया ने टूटी फूटी विकृत हिन्दी में मुझसे कहा—

'अरे बाबा ई तो ईश लड़की का है।'

मैंने ईयररिंग उस लड़की की ओर बढ़ा दिया। लड़की ने एक बार भुवन-मोहनी दृष्टि से मेरी ओर देखा। स्त्री-सुलभ लज्जा उसके कपोलों पर खिल गई। उसने ईयररिंग ले लिया। और.....'

शुक्लेशजी अपनी दोनों हथेलियों को मलते हुए हि·· हि·· इ ··हि कर हँस पड़े। हमने कहा–

'देखो शुक्लेशजी, अब पूरी बात बताओ। हि···हि···इ ·· हि···से काम नहीं चलेगा।'

अभी हमारी बात पूरी होने भी नहीं पाई थी कि हमने कम्पोजीटरों में भूकम्प की–सी हलचल महसूस की। अपने कमरे से निकल कर हमने देखा कम्पोजीटर आपस में गुप्त-मन्त्रणा कर रहे हैं। और शुक्लेशजी की मेज के पास एक छोटी बंगाली बच्ची हाथ में कागज का चिट लिए खड़ी है। उसी समय कान पर जनेऊ चढ़ाये रामधन ने बिना मेरी ओर देखे आवाज लगाई–

'अरे कहाँ गए हो शुक्लेश जी, इहाँ ई बिटवा तुम्हार बाट गुहार रही।'

कम्पोजीटर्स हँस पड़े। मैंने बढ़ कर चिट बच्ची से ले ली। मैंने मुड़ कर देखा तो शुक्लेशजी हमारे पीछे खड़े थे। और ऐसे खड़े थे मानो रास्ता चलते जुआ खेलते पकड़ लिये गये हों। हमने उनका हाथ पकड़ा और अपने कमरे में ले गये। कुर्सी पर बैठ कर हमने पूछा–

'तो शुक्लेशजी यही मल्लिक-गार्डन वाली लड़की है।'

शुक्लेशजी फिर उड़े और छायावादी-कवियों की तरह खूब उड़े, लेकिन हमारे सामने उनकी एक न चली। अन्त में उन्होंने किसी तरह पीछा छूटते न देखा तो कहा —

'जी, यही वह लड़की है। अभी तक सियालदह में रहती थी। यह बंगालियों का मुहल्ला था, इस कारण साफ़साफ़ बोल तो न

हो सकी। लेकिन लुक छिप कर देख अवश्य लेता था। अभी परसों से .... '

मैंने बीच में बात काटते हुए कहा—

'बस, शुक्लेशजी बस ! लो पहले फर्मे का मेटर अबकी हम और तुम मिल कर पूरा कर डालें। तुम मल्लिक-गार्डन से आज तक की घटनाओं का सजीव भाषा में संस्मरण लिख डालो। और मैं भी आज की घटना का।'

मैं अपना यह संस्मरण कम्पोज होने देरहा हूँ। और शुक्लेशजी ! वे एकबार एक शब्द लिखते हैं—फिर काट डालते है। एक लाइन लिख डालते हैं और बाद को उसे तीन-तीन बार गाढ़ी स्याही से काटते हैं। बात यह है कि सामने के कमरे में लाइट जलाकर उस लड़की ने बेले की गति में गाना शुरु कर दिया है—

' हालेर काछे माझि आछे करबे तरी पार। '*

शुक्लेशजी की मन-स्थिति भँवर में डूबी तरिणी के समान है। वे विकृत हैं--परेशान हैं ? कम्पोजीटरों के चहरे पर मुस्काम है और वे कभी-कभी शुक्लेशजी की इस बेबसी को देखकर 'टाइप' की स्टिक पर चोट कर हँस लेते हैं।

---

* पतवार के पास मल्लाह है, नैय्या पार कर देगा।

इस कहानी में आए हुए रवीन्द्र के गीत का सारांश--

तेरे अपने आदमी तुझे छोड़ देंगे। सिर्फ इसीलिये चिन्ता करने से काम नहीं चलेगा। तेरी आशालता छिन्न होकर गिर

जाएगी। और कदाचित उस में फल भी नहीं आयेगा। सिर्फ इसीलिये चिन्ता करने से काम नहीं चलेगा। तेरे रास्ते में अन्धकार उतर आयेगा, तो क्या इसलिये तू रुक जायगा? अरे तुझे बार-बार बत्ती जलानी होगी, कदाचित अन्त तक बत्ती ही नहीं जलेगी। सिर्फ इसलिये चिन्ता करने से काम नहीं चलेगा। तेरे मुख की वाणी सुनकर जंगली जानवर तक तुझे घेर लेंगे। तो भी शायद तेरे अपने घर के पत्थर के हृदय नहीं पसीजेंगे। सिर्फ इसीलिये चिन्ता करने से काम नहीं चलेगा। तूने दरवाजा बन्द देख लिया, क्या तू तत्काल लौट चलेगा। अरे, तुझे बार-बार धक्का मारना होगा, फिर भी कदाचित दरवाजा नहीं खुलेगा। सिर्फ इसीलिये चिन्ता करने से काम नहीं चलेगा।

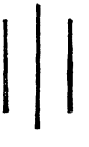

*

अभिलाषा

मैं आज·····हॉस्पिटल के पुअर-वार्ड में पड़ा हुआ हूँ। कल मेरे भाग्य का निर्णय होगा। यदि ऑपरेशन सफल होसका, तो मैं जीवित बच सकूँगा, अन्यथा ·····

लेकिन मुझे मृत्यु का भय नहीं है। मैं यहाँ नित्य एक सप्ताह से अपने जैसे अनेक मरीजों को मृत्यु के गले आसानी से उतरते देख चुका हूँ। और इस सब ने मुझे निर्भीक बना दिया है। इतना ही नहीं मुझे तो जीवन में ही अधिक उत्पीड़न और वेदना अनुभव होरही है, जो मृत्यु के बाद सदैव के लिए मुझ से बिछुड़ जाएगी।

गत रविवार को मैंने देखा था—एक नौ जवान अपनी पत्नी के साथ इस वार्ड में आया था। मोटर-एक्सीडेण्ट से उसका सर फट गया था—पैर की हड्डियाँ टूट गई थीं, सीना मोटर के बेदर्द पहियों के नीचे कुचल कर चपटी की हुई लोहे की चादर की तरह होगया था। डॉक्टर ने कहा—

'यह मरीज चन्द-घण्टों का मेहमान है।'

और उस नौजवान ने, जो पहले से इस 'परिणाम' से परिचित था, विकृत सूखी हँसी हँसते हुए कहा था—

'मैं मौत से नहीं डरता। मैं जीवन का सब से बड़ा वरदान पा चुका हूँ। मुझे आज सन्तोष और हर्ष है कि जिस स्त्री से मैं प्रेम करता था उसके प्रेम के ऊपर मैंने विजय प्राप्त की है—उसे सम्पूर्ण अपना बनाया है। और अभी जब मैं मृत्यु से अपने जीवन के अन्तिम-क्षणों के लिए लड़ रहा हूँ, तब भी वह मेरे सामने है। उसके हृदय में मेरे लिए व्यथा है—दर्द है—चुभन है, जिसे मैं अनुभव कर रहा हूँ। बस, और मुझे क्या चाहिए?'

और वह नौ-जवान चार घण्टे बाद मर गया था।

एक दूसरा ग्रामीण था। आज से चार दिन पूर्व वह यहाँ आया था—साथ में उसके स्त्री और मासूम बच्चे थे। शरीर उसका सूख कर काँटा होगया था—स्वस्थ-मानव का उसमें कोई चिह्न शेष न बचा था—हाथ-पैर उसके मांसहीन हड्डियों के रूप में अवशेष थे—सारे बदन की हड्डियों के जोड़े स्पष्ट दिखते थे, मानो चित्रकार का अधूरा मॉडल-मात्र हो। डाक्टर ने कहा—

'इसे तपैदिक है। बचना असम्भव है। युवाली-सेनोटोरियम की स्वास्थ्यप्रद आबहवा इसे कुछ समय के लिए जिन्दा रख सकती है। लेकिन फेंफड़े इसके इतने बेकाम होगये हैं—रक्त-प्रवाह इसका इतना धीमा पड़ गया है, कि पता नहीं किस समय इसका जिन्दगी से साथ छूट जाये।'

स्त्री रोई-बच्चे करुण क्रन्दन कर उठे! लेकिन वह ग्रामीण अपने पलंग पर अविचल—बिना कोई पीड़ा का भाव अंकित किए पड़ा रहा। स्त्री ने मर्मान्तक स्वर में कहा—

प्राणनाथ यह झूठ है-सफेद झूठ है। मौत तुम्हें मुझ से नहीं छीन सकती-नहीं छीन सकती।'

और उस ग्रामीण ने स्त्री को स्नेह से अपने पास बैठने का संकेत करते हुए कहा था।

'तू रोती है पगली! में तो तेरी याद लिए, बिना किसी दुख के बादुर-सिपाही की तरह इस संग्राम में मर सकूँगा। मुझे तेरा प्यार मिला है। संयोग ने हमें मिलाया था और आज विछोह हमें अलग किये देरहा है। लेकिन मुझे इस विछोह के लिए सन्ताप नहीं है, क्योंकि मैं तुझे और तेरे सरस प्यार को पा चुका हूँ। मुझे अब कुछ नहीं चाहिए--नहीं चाहिए!'

और दो-रोज बाद वह ग्रामीण भी मर गया था।

मैं अपने बिस्तरे पर पड़ा अपने गत जीवन के पृष्ठों को सावधानी से उलट रहा हूँ। उक्त दो घटनाओं से गत तीन दिन से मेरी संवेदन-शक्ति मुझे विगत जीवन की ओर ठेले देरही है।

बारह वर्ष पुरानी बात है--

मेरे पिता का ट्रान्सफर जिले से एक क़स्बे के हॉस्पिटल में होगया था। उस वर्ष जब मैं यूनीवर्सिटी की एम० ए० फायनल की परीक्षा देकर शहर के कोलाहलमय वातावरण से गाँव के शान्त और किसी दार्शनिक-व्यक्ति की गम्भीर प्रकृति से वातावरण मे पहुचा, तो प्रारम्भ में अपने में सजीवतासी अनुभव की! लेकिन धीरे-धीरे वह शान्ति और एकाकीपन खलने लगा। मन अनायास सोसाइटी, क्लब और सहयोगियों के चुहल-भरे-सम्पर्क में आने

के लिए तरसने लगा लेकिन गाँव में क्लब कहां--सहयोगियों का विनोदपूर्ण सरस सहयोग कहाँ--सोसाइटी कहाँ! तब मैने यह निश्चित किया कि गाँव के हॉस्पिटल में जा पिता के काम में हाथ बटाया करूँगा।

हॉस्पिटल में पिता जी के अतिरिक्त उनका एक असिस्टेण्ट और था लेकिन डिस्पेन्सरी का कार्य अधिक था अतएव मुझे भी वहाँ खाली हाथों निष्काम न बैठना पड़ता था। कभी किसी का बेण्डेज करना—लेप लगाना--छोटे-मोटे प्रिस्क्रिप्शन्स तैयार करना आदि! और आज भी मुझे अच्छी तरह याद है, बाद में, मैं वहाँ के काम में इतना सलग्न रहने लगा कि मेरा असन्तोष, एकाकीपन का कटु-भावना, जैसी नदी की लहरों की तरह उठी थी, वहीं समा गई-शान्त होगई मेरे छुट्टियों के दिन मजे में बीत चले!

एक दिन की बात है। रात भर पानी काफी पड़ा था। गाँव के रास्ते चलने-फिरने योग्य नहीं रहे थे। हरेक जगह कीचड़ थी। चौपों के पदचिह्नों से बने गहरे गड्ढों में मटमैला पानी भर गया था। पोखर गन्दे पानी से भरे हुए थे। गाँव के कई घर और झोंपड़ियाँ पानी की तीव्र प्रलय कारी बौछारों और वेग के कारण बह गई थीं। और घाँस-फूंस के तिनके चारों तरफ बिखर गये थे।

उस दिन हॉस्पिटल में कोई मरीज नहीं आया था। पिता, असिस्टेण्ट और मैं बरामदे में बैठे बातचीत कर रहे थे।

इस पानी का फसल पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। हरेक साल अनावृष्टि या सूखा पड़ जाने से देश का कृषक-वर्ग आर्थिक

प्रताड़ना से दबता जारहा है। इसका प्रभाव गाँव के सांस्कृतिक और सामाजिक-जीवन पर भी पड़ता है। आज की आवश्यकता ग्रामों के उत्थान के सम्बन्ध में इस बात की है कि कृषक,कृषि के अतिरिक्त घरेलू-धन्धों को अपना लें जिससे उनकी आय में वृद्धि हो।'

पिताजी का दृष्टिकोण इससे विपरीत था। वे गृह-उद्योगों के प्रसार में लाभ नहीं देख पाते थे। उन्होंने कहा--

'अतुल' आज के मशीनयुग में इन घरेलू-धन्धों का भला क्या महत्व! एक स्वेटर जहाँ हाथ से बुनने में दस दिन लग जाते हैं वहाँ मशीन का स्वेटर उत्पादन प्रति घण्टा कम से कम दस होगा। हाथ से कागज बनाने में जहाँ एक रिम के लिए दो दिन लग जाते हैं, वहाँ मशीन द्वारा दो घण्टे में बीस रिम तैयार होते हैं। यह दुनियाँ प्रतियोगिता और इससे उत्पन्न संघर्ष-भावना पर ही उन्नति-पथ पर अग्रसर हो रही है। और इन हस्त-उद्योगों की क्या बिसात जो बड़े-बड़े मशीन-उद्योगों की प्रतियोगिता में खड़े रह सकें--अपने अस्तित्व भर को रक्षा कर सकें।' मैंने पिता की बात का विरोध किया--

'मैं आपकी कही बात में कतई विश्वास नहीं करता। ये गृह-उद्योगों का अतीत ही हमारे देश का गौरव है। जानते हैं आप, इन बड़ी-बड़ी फेक्ट्रीज और मिल्स के निर्माण से साधारण जनता का कितना शोषण हुआ है--उनका बौद्धिक-स्तर कितना गिर गया है-- हमारी कला का कितना पतन हुआ है। मजदूर जो आज फेक्ट्रीज और मिल्स में दस और बारह घण्टे काम करते हैं, यही किसी समय स्वावलम्बी अच्छे दस्तकार थे। जो

पाँच-छह घण्टे अपनी स्वेच्छानुसार कार्य कर अपनी जीविका अर्जन करते थे और चैन की नींद सोते थे। लेकिन आज उन्हें नौकरी करने और मिलों में दस और बारह घण्टे कठिन परिश्रम करने पर भी उतने सुलभ साधन उपलब्ध नहीं होते।

इन मशीनों ने हमारे अन्दर गुलामी की, परवशता की वृत्ति जागृत की है। हमारा आर्थिक शोषण ही नहीं, मानसिक पतन भी किया है।

मैं आगे और कुछ कहूँ कि मैंने गाँव की पगडंडी पर एक पीड़ित वृद्धा को एक नवयुवती के सहारे अस्पताल की ओर आते देखा। बुढ़िया के चलने से ऐसा प्रतीत होता था जैसे उसके पैर में विषातक चोट है—चलने में उसे पीड़ा मालूम होती थी।

मेरी कल्पना विस्तार पा रही है।

मुझे याद है, वह युवती नीचा सलूका पहने थी, जो सीमे पर आकर चुस्त हो गया था। एक काला बारीक बादल का दुपट्टा वह ओढ़े थी, शरीर पर शलवार थी और पैरों में चप्पलनुमा सेण्डिल! उसके चहरे पर एक अजीब कमसिनी थी—हरिणी-सी भोली आँखें-चहरा ऐसा, जैसे बारिश के बाद निर्मल आकाश में खिला चाँद! बदन का रँग ऐसा, जैसे रुपहली चाँदनी, नव-विकसित यौवन के भार से दबा बदन, घुँघराले बाल, मुड़ौल उठे हुए उरोज! उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों संगमरमर की शिला को काट-छाँट कर गढ़ी हुई प्रस्तर-मूर्ति में किसी ने प्राण डाल दिये हों। उसने पिताजी के पास आकर कहा—

'डाक्टर-बाबू ! मेरी माँ जीने पर से गिर पड़ी—पैर में चोट आगई है।'

पिताजी उठ बैठे और अपने असिस्टेण्ट की सहायता से वृद्धा को सहारा दे ऑपरेशन-रूम में ले गये। मैं अपनी जगह पर बैठा रहा। युवती ने मुझसे प्रश्न किया—

'आप यहीं रहते हैं क्या ?'

'जी हाँ !'

'लेकिन मैंने तो आपको इसके पहले कभी यहाँ नहीं देखा ?'

'जी, मैं अभी तक शहर की युनीवर्सिटी में पढ़ता था। इस वर्ष ही एम० ए० की परीक्षा देकर बाबूजी के पास आया हूँ।'

वह चुप हो गई। बुढ़िया-माँ ऑपरेशन-रूम से निकल आई थी और वे दोनों चली गईं।

तीन-चार दिन तक रसवन्ती बराबर अपनी वृद्ध-मा को लेकर हॉस्पिटल में आई। जिस समय वह अस्पताल में आती इस समय मैं अवश्य मौजूद रहता। उन तीन-चार दिनों में ही हम दोनों आपस में काफी हिल-मिल गये। बूढ़ी-मां अच्छी होने पर एक दिन हमारे घर पर भी गई और मां से पिताजी की चिकित्सा की प्रशंसा की। बाद को रसवन्ती और मेरी बहनों में ऐसी घनिष्टता बढ़ी कि रसवन्ती का घर में आना-जाना नित्य का क्रम-सा बन गया।

वह घर में आती, तो घर के वातावरण में संगीत की मधुर लय-सी बँध जाती। वह हँसती तो निस्तब्ध वातावरण पुलकित हो सरस विकम्पन से भर जाता। मैं सदैव यह चेष्टा करता कि

जब तक वह घर में रहती उसके सामने किसी न किसी बहाने बना रहता। मैं रसवन्ती से छुपे-छुपे प्रेम करने लगा था। और रसवन्ती, उसके कपोलों पर भी मुझे देखते ही लज्जा, सिक्त कोमल रक्तिम लालिमी छा जाती, ऐसी, जैसे सूर्योदय और सूर्यास्त के समय क्षितिज के सुदूर नभ-मंडल पर अरुणिमा बिखर कर उसे रक्त-रंजित कर देती है।

मैं रसवन्ती से प्रेम अवश्य करने लगा था, किन्तु मेरी महत्त्वाकांक्षाएँ हिमालय-सी ऊंची और उन्मत्त सागर-सी प्रबल थीं। पिता का अनुमान था- एम० ए० कर ही लिया अब लॉ, फिर सिविल-सर्विस की तैय्यारी—डिस्ट्रिक्ट मेजिस्ट्रेट, कलक्टर और····· !

यूनीवर्सिटी के प्रोफेसरों का कहना था—

'अतुल यूनीवर्सिटी का नाम उज्जवल करेगा। बीस वर्ष की अवस्था में सर्व-प्रथम एम० ए०, अब डी० लिट्० और फिर·····।

और मेरा अपना ख्याल था—'अभी मेरी अवस्था ही क्या है ? और फिर यह आकाश-चुम्बन करतीं सफलताएँ। मुझे महान् बनना है, ऐसा जिस के व्यक्तित्व को जीवन के प्रत्येक-क्षेत्र में कद्र हो—मान और धन श्री मेरा-चरण-स्पर्श करें।'

और तब इन काल्पनिक स्वप्निल महत्त्वाकांक्षाओं के बीच रसवन्ती का प्यार दब जाता।

धीरे-धीरे गर्मियों की छुट्टियों के दिन बीत चले। मुझे शहर वापस जाने के दो दिन शेष थे। मैं अपने कमरे में बैठा आवश्यक

वस्तुओं का संग्रह कर रहा था कि मैंने देखा रसवन्ती ने मेरे कमरे में प्रवेश किया, उस दिन वह गम्भीर थी। चिन्ता की वक्र रेखाएं उसके चौड़े माथे पर अंकित थीं। उसे देख कर स्पष्ट प्रतीत होता था कि वह अभी-अभी रोकर आई है।

मैंने हँसते हुए पूछा—

'यह आज तुमने कैसा मुंह बिगाड़ रखा है ?'

उसके मन की अस्पष्ट वेदना मुखरित हो उठी—

'मैंने सुना आप परसों जारहे हैं !'

मैंने सहज ही उत्तर दिया—

'हाँ—क्यों ?'

वह परिस्थिति से सचेत होगई—

'वैसे ही, अब कब लौटिएगा ?'

'दुर्गा-पूजा में या फिर दिसम्बर क्रिसमस में !,

वह स्तब्ध खड़ी रही। मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे किसी आन्तरिक ठेस ने उसके स्वप्न के राग को चूस लिया और वे नीरस पँखुरियों की तरह बिखर गये। बड़ी देर तक वह वैसी ही खड़ी रही फिर सकुचाते हुए सामने के बाग़ की ओर संकेत कर उसने कहा—

'आप बाग़ में से एक फूल मेरे लिए तोड़ लायेंगे ?'

मैं बाग़ में जाकर गुलाब का एक सुन्दर अर्ध-विकसित फूल तोड़ लाया और मैंने कहा—

'जूड़ा करो, तुम्हारे जूड़े में फूल लगादूं।'

उसने निस्संकोच पीठ मेरी ओर फेरदी। मैंने उसके कन्धे

को स्पर्श किया, तो सारे बदन में जैसे बिजली-सी विद्युत-धारा प्रवाहित होगई—मुझे अन्दर से सेक्स की उत्तेजना का आभास मिला। लेकिन मैंने तुरन्त फूल उसके जूड़े में लगाकर हाथ खींचा, वह मंथरगति से ग्रीष्म की क्षीण सरिता की भाँति मेरा कमरा पार कर गई। मैं अवाक् खोया-सा उसकी ओर देखता रहा।

मेरा असबाब बाँधकर इक्के पर रखा जा चुका था। जिसपर बैठकर मुझे बीस मील दूर रेलवे-स्टेशन पर पहुँचना था। चलने से पूर्व दिनभर और आज बराबर प्रयत्न किया था कि एकबार रसवन्ती को देख-भर लूँ। लेकिन रसवन्ती का कहीं भी पता न लगा। न तो उसका कोई सन्देश मिला और न वह विदा-वेला के समय देखने भर के लिए आई। उसकी यह अवहेलना मेरे हृदय में काँटे की तरह-चुभ रही थी। मैं इक्के में अपना दर्द छिपाए बैठ गया। इक्का चल दिया। जैसे ही इक्के ने गाँव की सीमा पार की कि मैंने रसवन्ती को नहर के पास खड़ा देखा-वही काला दुपट्टा, सलवार, चुस्त सलूका पहिने। मैंने इक्का रुकवाय लेकिन रसवन्ती मुझे देख कर रुकी नहीं—मेरी ओर पलट कर देखा भी नहीं—तेजी से गाँव की ओर भाग गई।

माँ के प्रथम वर्ष में ही पिता की मृत्यु होगई। मुझे आर्थिक संकीर्णता के कारण पढ़ना छोड़ना पड़ा और विवश होकर पचास रुपये प्रति मास की नौकरी करना पड़ी। मेरी महत्वाकांक्षाएं, रात में आकाश में खिले नक्षत्रों सी बिखर गई। आज बारह साल का लम्बा समय जीवन से संघर्ष करते ही बीता है। कभी एक जगह नौकरी छोड़ कर दूसरी जगह की है और फिर उसे भी छोड़ कर तीसरी किसी अच्छी जगह के लिए प्रयास किया है

विवाह मैंने किया नहीं-इस योग्य मैंने कभी साधन सम्पन्न भी तो नहीं पाया। लेकिन आज जब मैं मृत्यु-शय्या पर पड़ा हूँ और शेष-जीवन की घड़ियों को गिन रहा हूँ, तो दुस्सह-वेदना इस बात की है कि मेरी मृत्यु के समय कोई भी मेरा अपना नहीं है जिसके प्रेम को-ममत्व को मैंने जीता हो--अपना कर पाया हो किसी की ऐसी मधुर-स्मृति भी तो मेरे गत जीवन के साथ नहीं है जिसकी कल्पना में, मैं अपना मन रमा पाता।

सोच रहा हूँ--काश उस दिन रसवन्ती के अधरों का एक बार भी चुम्बन कर अपनत्व का चिह्न अंकित कर दिया होता तो उस की सुखद कल्पना मन के आज तूफान से उठते अन्तोष को, सान्त्वना द्वारा शान्त कर पाता।

रसवन्ती का विवाह किसी न किसी के साथ हो ही गया होगा आज तो उसके आगे पीछे बाल-बच्चों का अच्छा समूह होगा-जिसमें उसने अपने को खो दिया होगा।

लेकिन मैं किस प्रकार इस पुअर वार्ड में अनाथों की तरह पड़े वतन्त्र-सन्तोष की सांस लूं— उफ!

प्रश्न-सूचक-चिन्ह

यदि दो टुकड़े खाकर मनुष्य कुत्ते की भाँति संतोष को हृदयंगम करले तो मानव जीवन में प्रगति और महत्वाकांक्षाएँ मृत्यु-सी निर्जीव हो जाएँ। लेकिन मानव जीवन में प्रगति चाहता है, नवीनता चाहता है। और तब जीवन और सुख भरी स्वप्निल आकांक्षाएं साथ-साथ चलती हैं।

पारो ने जब गनेशा से अनबन नहीं देखी, तो पूरन के घर जा बैठी। गनेशा दो रूखी-सूखी रोटियाँ खा और लोटा भर ठण्डा पानी पी टाँग पसार सोने वाला आदमी था! उसे न घर से मतलब था और न जहान से। रोज कुआ खोदना और रोज पानी पीना। उसके बाद घर में आग लग जाय, जल कर भस्म हो जाय तो भी उसके कान पर जूँ न रेंगे-वह आदमी था ऐसा? पारो ने कई बार गहने गढ़ाने के लिये उससे कहा-रोई सर पटक

लिया-खून तक बह निकला! लेकिन वह उस समय भी खड़ा हँसता रहा था और फिर क्रोधित हो कर कह दिया था-

'चुड़ैल कहीं की! दुनिया को इस मँहगाई में पेट भरना दूभर है और राँड को गहने गढ़ाने की पड़ी है। जिसके पास पेट पालने से ज्यादा पैसे बचें, वह तेरी अभिलाषा पूरी करे। हम तो पतंगे हैं, दिया जल रहा है, बस्स देख रहे हैं—अभी मर मिटेंगे छन भर में! गले में फाँसी का फंदा डाले आदमी भी कहीं मिठाई माँगता है?

पारो और गनेशा दोनों ही अपने भाग्य को कोस रहे थे; लेकिन दृष्टि-कोण भिन्न थे। एक जीवन सहचर को कोस रही थी, तो दूसरा अभिशप्त जीवन को।

गनेशा के जीवन में भी कभी ऐसा समय रहा था, जब भरी बदरिया यौवन के मद से उन्मादित झुक जाती, किसी अज्ञात व्यक्ति के अलिंगन पाश में गुँथ जाने के हेतु, व्यक्ति परित्यक्ता की भाँति उसकी अवहेलना कर पीछे हट जाता और तिरस्कृत बदरिया रो पड़ती...झिर मिर...फिर मिर...! उसी समय गनेशा खेत के ऊँचे मचान से रस भरे मधुर स्वर में मल्हार गा उठता—

'बरसे बदरिया झिर-मिर...फिर.. मिर!'

और संगीत की ध्वनि के साथ ही बगल के खेत की मेंड़ की ओट से दो काली, यौवन का भार लिए बड़ी-बड़ी सुडौल आँखें चमक उठतीं।

× × × ×

जेठ का महीना भरी जवानी में अपना तीखापन खो बैठा था। लू के सपाटे अभी बँध भी न पाये थे कि सावन और भादों

की सी बादलों की गड़-गड़ाहट आरम्भ होगई थी। गड़गड़ाहट के साथ पानी भी पर्य्याप्त बरसा और बादलों के भीमकाय तिमिर-वर्ण शरीर में जेठ की तीक्ष्ण उष्णता और सभी कुछ समा गया।

उस दिन गनेशा जामुन के पेड़ की एक ऊँची डाल पर बैठा बड़ी-बड़ी काली जामुने खाते हुए गारहा था-

'मन की डार मैं डाल झूलना झलूं बहुरिया संग।

सोनिया अपने बाग के टपके बीन रही थी। गनेशा का गीत सुना तो वह ध्वनि के साथ गनेशा की ओर खिच चली, चुम्बक सी। गनेशा ने सोनिया को आते देखा तो और जोर-जोर से गाने लगा। सोनिया ने बनावटी क्रोध को भृकुटि द्वारा व्यक्त करते हुए कहा-

'अब नीचे उतरो देखते नहीं हवा कैसी ठंडी चल रही है। जरा जोर से डार चर हो नीचे आगिरोगी सेंत-मेंत में चौटिल हो खटिया सेओगे।'

गनेशा ने यह सुना तो सोनिया को चिढ़ाने के लिए और ऊपर वाली डाल पकड़ ली। और ऊपर चढ़ने लगा। सोनिया भय दिखाती हुई बोली-

'बुलाऊँ फिर बापू को ?'

गनेशा ने चुनौती स्वीकृत करते हुए उसी स्वर में कहा 'तेरा बापू तोप थोड़े ही है। जा, मैं तो और ऊपर चढ़ूँगा। चली वहाँ से लफटेण्ट बन कर हुकम देने।'

सोनिया इस तिरस्कार से रोदी और गनेशा ने सोनिया की आँखो में ज्यों ही आँसू छलकते देखे तो बिना चूँ किए उतर आया

और बोला-'औरत की साख ही न्यारी है। जरा कोई बात कही नहीं कि टपके से टप-टप आँसू गिर पड़े। उन आँसुओं में मरद जाति को मोहने का जादू जो है। बड़ी से बड़ी बात पर आदमी न पसीजे लेकिन जहाँ जनी-मानस की आँख से दो बूँद आँसू गिरे कि काम पतेहू।'

उसने एक हल्की-सी चपत सोनी के गाल पर रसीद करते हुए कहा-

'पगली कहीं की। रोकर डराती है! चल-चल जा कर अपना काम।, सोनिया अब भी सिसक रही थी। गनेशा ने उसे अपनी ओर खींच कर उसके आँसू अपनी मिरजई से पोंछ दिए और फिर नट का-सा अभिनय कर कह दिया-

'का सासरे जारही है री?'

सोनिया हँस पड़ी, मानो मेघाच्छन्न आकाश से निकल कर प्रभातकालीन प्रथम स्वर्णिम किरन ने पृथ्वी का चुम्बन किया हो दोनों एक दूसरे की ओर अनिमेष नेत्रों से देख रहे थे और अविराम एकटक देखते रहे। गनेशा ने मरी बातों में जान टालते हुए कहा-

'सोनिया, तेरी सगाई तेरा बापू हरीधना से कर रहा है। मैं इन आँखों से ता तेरे फेरे देख न सकूँगा। आगे भगवान की मर्जी!

सोनिया भविष्य की दुष्कल्पना कर नः सिसक उठी-

'मैं तो कुए में जा गिरूँगी। जान चलीजायेगी तो सारे जँजाल छूट जायेंगे। भगवान तुम्हे नीके राखे और मुझे कुछ नहीं चाहिये।'

'ना सोनी ! सा कुछ न होगा । मैं अपनी जान पर खेल जाऊँगा । हरीधना को अपनी सम्पत्ति का गुमान है, तो बना रहे । जवान-जवान हाथी से पट्ठे द्वार पर झूल रहे हैं, तो भी पिचके गालों और बिचुर-पिचुर आँखों में जवानी का सरूर भरा है । पुराना पापी है । मैं मरूँगा, तो उसे भी नरक में खींच ले जाऊँगा ।

× × × ×

हरीधना से विवाह होने के पूर्व ही सोनी चल बसी, मन की साध खुले हाथों निर्मम संसार को लौटा और गनेशा की बातें उसी तक सीमित रह गईं । उसने पहले तो सोचा—'धूनी रमा कर साधु बन जाऊँ । न किसी के लेने में रहूँगा और न किसी के देने में । अब ऊसर में बीज बोने से कौन लाभ--पौद की जड़ ही उखड़ गई तब सींचने से क्या फायदा ?'

कुछ दिन बीते और उसके साथ ही सोनी की स्मृति भी क्षीण से क्षीणतर होती गई—और विस्मृति के गर्त में विलीन हो चली । बापू ने जोर दिया, संसार का ऊँचा-नीचा समझाया और मिहरिया उसके गले में बाँधकर भारो कर दिया ।

पारो ने अभी यौवन की मद-भरी प्याली चढ़ाई ही थी और गनेशा, उसके यौवन का सरूर अममय ही अन्तर-वेदना एवं उत्पीड़न की कसमसाहट से उतर गया था ! पारो जब गनेशा को छोड़-दूसरा घर बसा बैठी और आस-पास के पड़ोसियों ने उसके विषय में पूछा भी, तो गनेशा या तो बात ही टाल गया या अनासक्ति-भाव से कुछ कह दिया ।

उस दिन रात अन्धेरी थी—पापी के मन-सी ! गनेशा ताड़ी-खाने से निकला। दूध-सी सफ़ेद ताड़ी के एक-दो नहीं, छह-सात गिलास उसने चढ़ाये थे। नशे के तीव्र संचारण के साथ ही उसका अतीत स्पष्टतर होता जा रहा था। वह गा रहा था—

'मन की डा····· आ·····र में·····डाल शू·· ल···ना। झूलूँ ब·· ···अ·····डुरिया संग।'

वह विगत की संचित स्मृतियों को ठेल आगे बढ़ जाना चाहता था। किन्तु आगे था अविवेक पूर्ण अन्धकार और पीछे थी आत्म-चेतना की प्रेरणा ! उससे थोड़े ही दूर पर एक मोटर तेज़ी से चली आरही थी। गनेशा अब भी नितांत बीच सड़क पर चला जारहा था। अनायास नशे की मद-होशी के कारण उसके पैर लड़खड़ाये-वह गिर पड़ा। उसके दाँत टूट गये। पत्थर पर सिरपड़ा तो खून बह निकला। वह अब भी बेसुरा अलाप रहा था—

'बरसे बदरिया आज·····झिरमिर·····झि····· इ-रि--मि--इर।'

सूनी लम्बी सड़क थी--मोटर एकदम रुक न सकी--अन्धेरे में मोटर उसके शरीर पर से निकल गई।

सुबह अस्पताल में उसके वमन से कड़ी दुर्गन्ध उड़ रही थी। देखने वालों में से सभी उसके असफल दाम्पत्य जीवन के प्रति समवेदना प्रगट कर रहे थे। देखने वालों में पारो और पूरन ने भी यह सब देखा और पारो ने किंचित् तिरस्कृत घृणा का-सा भाव प्रदर्शित करते हुए पूरन से कहा--

'चलो, अच्छा हुआ पाप कटा।'

पूरन ने अपने आग्नेयनेत्र उसके चेहरे पर गड़ा दिये और क्रोध को दबाते हुए मलिन स्वर में कहा—

'डायन !'

और फिर न जाने कहाँ चला गया।

पारो को एक इक्के वाले ने घर में डाल लिया है। उसकी आकांक्षाएँ तो आज पूर्ण होगई हैं, किन्तु अत्यन्त विकृत और घृणित रूप में ! पारो ने जिसे सुख समझा था वह सारहीन मृग-तृष्णा निकली। कभी-कभी पारो अपने विषय में सोचती है, तो अनचीन्ही वेदना उसके अन्दर और बाह्य संसार में भर जाती है। वह अत्यन्त करुण स्वर में अबला की भाँति सिसक पड़ती है—उसकी आँखें गीली हो जाती हैं। और प्रश्न-सूचक चिन्ह मरघट के भूतों से भयावह सामने बन जाते हैं — क्यों ? क्यों ? क्यों ?

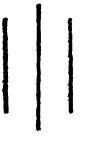

मियां ख़लील का 'हाल'

बड़े मज़े की बात याद आरही है। शायद जाड़े का मौसम था और हम निहायत इत्मीनान के साथ छत पर टहल रहे थे। बात यह थी कि टहलने के सम्बन्ध में हाल ही में हम मैकफेडन साहब का एक लेख पढ़ चुके थे, जिसमें टहलने के बारे में निहायत ज़रूरी बातें बताई थीं। जिन्हीं बातों का रियाज़ कर रहे थे। कभी आगे को सीना कर, पीछे दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँध, पैरों पर शरीर का वज़न छोड़ इस ज़ोर के साथ चलना शुरू करते कि नीचे वाले समझने लगते ऊपर दुरमुठ से छत कूट रही है। और आप ईमान लाइए एकबार तो मुसानी के लड़के ने इस ज़ोर से चीख कर हल्ला मचाया कि वालिद साहब, जो शायद बाहर मसनद पर बैठे ख़मीरे के अविराम कश ले रहे थे, बिला किसी इत्तला के ज़नानखाने में घुसे चले आये—

'अरे क्या हुआ खलील·····अर·····र····· क्या ?'

और खलील साहेब ने जो यह तसलीबख्श अल्फाज सुने तो लगे और जोरों से हिचकियाँ भरने। बात यह थी हम नीचे की दुनियाँ से मुतलक़ वाकिफ़ नहीं थे। लिहाज़ा हमारी चाल में किसी तरह का फर्क नहीं आया—वही खरामाँ चाल, पैरों पर ज़ोर और सीना निकला हुआ। खलील साहब के चीखने का सबब हमारा टहलना था। मुमानी ने कुरान शरीफ़ के आधार पर क़हर की जो तफ्सील बयान की थी; वह बयान हमारी चाल, उससे पैदा हुई आवाज़ से सेन्ट-परसेन्ट मिलता था। अतएव खलील साहेब समझ बैठे थे कि कहर अब बरपा हुआ ही चाहता है। इधर अब्बा ढाढ़स बँधा रहे थे और उधर खलील साहेब अपने दोनों हाथ आसमान की मूक सत्ता की ओर निहायत अदब से उठाये क़ुरान शरीफ़ की किसी आयत का पाठ कर रहे थे। उनकी आँखें किसी सन्त महात्मा के परिस्तिश के वक्त की भाँति बन्द थीं। आँखों से अविरल आँसुओं की धाराएँ बह रही थीं, मानों दुनिया का पाप पिघल कर बह रहा हो।

अब्बा चिल्ला उठे—

'बच्चे को 'हाल' आरहे हैं।'

और घर में तोबाह मच गई। मुमानी, जो गोश्त उबाल रही थीं, उसे वैसा ही छोड़ भागीं, अम्मीजान जो शायद चपातियों के लिये मटके से आटा निकाल रही थीं, इधर जो लपकीं तो बड़ा खिसककर जमीन पर आपड़ा और उसमें का आटा

ऐसा बिखर गया, मानो आसमान पर चौदहवीं के चाँद की चमकीली सुफ़ेद चाँदनी छिटक आई हो।

घड़े के फूटने की आवाज़ और अब्बा की हाय तोबाह ने हमें छत के नीचे उतरने के लिये मजबूर किया। हम ज़ीने पर पैर रखते नहीं हैं कि ख़लील साहेब तमाम जिस्म का ज़ोर लगा कर आग के शोले की चमक-से लहक उठे—

'ओ ख़ुदा·····परवरदिगार·····रहम·····रहम।'

और आख़िर में जो शब्द हमारे कान में पहुँचे वे थे—

'रहम तेरा हर घड़ी दरकार है।'

अब्बा ने हमारी तरफ़ इशारा करके कहा—

'अरे मुफ़ीद वहाँ क्या खड़े हो? जल्दी उतरो, बच्चे को 'हाल' आरहे हैं।'

हम अभी तक ठीक तरह समझ भी न पाये थे कि यह 'हाल' क्या बला है कि अब्बा फिर गरज उठे—

'नामाकूल, क्या कह रहे हैं हम? हज़रत गोया बहरे हो गये हैं; सुनते ही नहीं। अरे तुम्हारी अक्ल पर पत्थर! काला मुँह करके पिछवाड़े से खाँ साहब को बुला लाओ।'

अब्बा की हाय तोबाह, मियाँ ख़लील की चीखें, मुमानी की बेशुमार हिचकियाँ और अम्मी की बदहवाली हमें परीशान करने के लिये काफ़ी थीं। बस यूँ समझ लीजिए, हमारे मुँह से आवाज़ नहीं निकलती थी, हाथ पैर बँध से गये थे। हम महसूस कर रहे थे शायद 'हाल' की हालत में हम भी आते जारहे हैं। हम सम्हलें-सम्हलें कि मुमानी बोल पड़ी—

'बेटा, ज़रा जल्दी खाँ साहेब को बुलाला। पंजु-वख्ता नमाजी हैं, कुरान शरीफ़ तो उन्हें हिब्ज़ है। न हो, उनकी बेटी को ही बुला लइयो। अरे क्या नाम है उसका—शाहजहाँ! कहियो आपा बुलाती हैं—ज़रूरी में।'

हमने एक दफ़ा अब्बा के तपे लोहे की तरह लाल चेहरे की ओर देखा और फिर एकबार मुमानी की तरफ़! और इसके आगे हमें बोलने की हिम्मत नहीं हुई। इधर ज़बान खोली और उधर अब्बा ने आड़े हाथों लिया। बस हम मजबूरन चल दिये। हमारे आगे लकीर-सा पतला टेढ़ा मेढ़ा रास्ता था, पैर हमारे उस पर चल रहे थे ऐसे मानों चींटी रिंग रही हो।

बात यह थी कि हम इन खाँ साहेब से मुतलक वाकिफ़ नहीं थे। अभी शबेरात के दो दिन पहिले उन्होंने हमारे घर के पिछवाड़े वाला मकान किराये पर लिया था। उनका क़द्दावर डील-डौल, उस पर भयानक खूनी-सुर्ख़ आँखें! यह कुछ ऐसी वजूहातें थीं, जिन्होंने हमारी और उनकी शनाशाई के बीच एक दीवाल-सी खड़ी करली थी। वे निकलते तो हम मुँह फेर लेते। एक-आध दफा तो हम पर उनकी आँखों और जिस्म का ऐसा रौब ग़ालिब हुआ कि हम मुंह उठाकर सीधे घर में घुस पड़े। मस्लन, अभी 'रोजे' के 'आखिरी-जुम्मे' की बात है। रोजा 'इफ्तखारन' के लिये हम अपने मकान की दहलीज़ पर खड़े शुबराती से सींक के क़बाब खरीद रहे थे कि आप तेहमद लपेटे, नंगे-धड़ंगे-बदन सामने आखड़े हुए—

'क़बाब ले रहे हो?'

अब हम क्या करें ? खड़े रहते हैं, तो न जाने क्या बात-चीत हो और अन्दर जाते हैं, तो क़बाब ..... ? लेकिन हम पर तो उनका बुरी तरह रौब ग़ालिब था। साहेब, हमने आव देखा न ताव, बस घर में दाख़िल ! मियां शुतरातो पुकार रहे थे—

'अरे मियां मुफ़ीद, अरे मियां क़बा। तैयार हैं।'

लेकिन हम न निकले, तो न निकले।

और आज हमें इन्हीं खाँ साहेब के यहाँ उन्हें ही बुलाने भेजा जारहा था। यानी हमारी जान लावारिश-यतीम है, जिसे चाहे क़द-कोहकाफ में फेंक दो, या दरियाय-दानियाल में ? न कोई पानी लेवा है, न देवा ! हमें वह पतला, टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता क्षितिज-सा दिखा ! पहले तो हम दालान तक गये, वहाँ हमारे विचारों में हल्का-सा धक्का लगा, मानो कोई नौजवान छोकरी शरारत भरी नज़रों से एक बार तरेर कर, फिर मुस्कराकर मन्द शीतल बसन्ती हवा-सी चलदी ! हमारे शरीर में एक क्षणिक कम्पन हुआ और फिर कुछ नहीं। हम आगे बढ़े। जब हम घर पार कर पिछवाड़े की तरफ़ जो गली जाती है उस तरफ़ मुड़े, तो हमें ऐसा मालूम हुआ कि हम बियाबान-जंगल में खड़े हुए हैं, जहाँ 'अपनों' में सिवा परिन्दा और दरिन्दों के कोई नहीं है। आसपास का सीन निहायत भयानक मालूम होता था। और उसी समय हमने महसूस किया कि माँद से शेर गर्जा और लपका ! हमारे होश हवास गायब, हम यकायक सकपका गये। देखते क्या हैं खाँ साहेब अपने हाथ की मुट्ठियों को बाँधे कुछ ख़फ़ा से और कुछ तेजी से गली की तरफ बढ़े चले आरहे हैं हम अपने को बुरी तरह कोस रहे थे—

'आज न जाने किस मनहूस की सूरत देख कर उठा जो खाँ साहेब हमारे नजदीक आ खड़े हुए—

'कहिये, क़िबला किधर ?'

हमने उनके तेवरों को देखा कि फिर बदन को और उन बात पर गौर किया। इस लहमें भर में हमारा दो अंगुल का नाजुक दिल इतनी जुर्रत न कर सका कि हम अपना मुँह फेर लें और फुर्ती से घर का रास्ता नापें। मैंने घबरा कर कहा—

'मुमानी ने आपको घर में बुलया है।'

'तुम्हारी बुआ को ?'

शाहजहाँ और बुआ, या खुदा बुरे फँसे। सीधे कह दिया होता—

'जनाब आपको..... जी, आपका बन्दानवाज़, आपको बुलाया है।' तो क्यों बुआ और शाहजहाँ के चक्कर में फँसते। सीधी सी बात थी और अब! हम परेशान थे और हद से ज्यादा परेशान थे। यह माथे के जाड़े के मौसम में पसीना चूना वास्तव में बदहवासी का चिन्ह है, तो निस्सदेह हम बदवास होते चले जारहे थे। और उसी समय हम सुनते क्या हैं—

'अजीब चुगद हो, इजरत। हम सवाल पूछ रहे हैं और आप कि बुत बने खड़े हैं।'

हमने निहायत शायस्तगी से कहा-

'जी, मैं आपका मतलब नहीं समझा ?'

उफ! हमारा इतना जबान से निकालना था कि गजब होगया। उन्होंने वो आड़े हाथों लिया, कि हमारा दिल ही जानता है। उनके एक एक लफ्ज पर हम ऐसे तड़प उठते थे, जैसे हमारे

घाव पर सुर्खमिर्च का पिसा बुरादा डाला जारहा हो। कहने लगे-

'आपकी समझ में क्या नहीं आया ? अमाँ हम तुम्हें गुलिस्ता या बोस्ताँ थोड़े ही पढ़ा रहे हैं और न हम ज़ोक, गालिब और इन्शा की अदबी जबान में ही बोल रहे हैं। हजरत की समझ में सीधे अल्फाज नहीं आरहे हैं।' और उन्होने तेवरों में बल और पेशानी पर गहरी सिकुड़ने डाल 'उह' जो किया, तो हम पीछे हट गये। उन्होंने तब भी अपनी बद जुबानी नहीं छोड़ी, बोले-

'निहायत डरपोक आदमी हो।'

वह हमारी तरफ़ एक अजीब मुद्रा से बढ़े कि इतने में हमारे वालिद बुजुर्गवार की आवाज सुनाई दी-

'मुफीद .....अरे मुफीद! क्या वहीं नमाज पढ़ने लगे।' मैंने खाँ साहेब की तरफ भींगी बिल्ली की तरह देखा और उन्होंने हमारी तरफ़। और वे एक अहसान की तरह हमारा रास्ता छोड़ कर खड़े हो गये।

'जाओ! सीधे चले जाओ, तुम्हारे पर्दे का वहाँ कोई नहीं है जो कुछ कहना हो अपनी बुआ से कह देना।'

हमने उन्हें साहब की अर्दली के चपरासी की तरह मुजरा किया और खुदा-खुदा करते आगे बढ़े। उनके घर पहुँचते-पहुँचते हमें किन-किन मुसीबतों का सामना करना पड़ा, अगर उनका तफ़सीलन बयान लिखने बैठा जाए, तो 'रॉबिन्सन-क्रूसो और

यूलिसिस की खौफ़नाक यात्रा के सम्बन्ध में छपे हुए बयान से कम दिलचस्प न होगा। खैर, मुख़्तसर यह कि हम उनके घर सही सलामत पहुँच गये। हमने उन्हें अदब से, जो खाँ साहेब के घर में हैं, सलाम किया और उन्होंने भी दिली फ़ख्याजी से हमें दुआएँ दीं—

'अल्लाह तुम्हें हज़ार बरस का करे। तू नौशेरवाँ हो। अरे आ शाहजहाँ! तेरे मुफ़ीद भाई आये हैं।'

'जी, आई ···· ···· आरही हूँ।'

और हमने देखा, कसी चूड़ी का गुलाबी पजामा, केले का धारीदार सलूका और जीन आस्मानी रंग का चुन्नटदार कलफ लगा मलमल का दुपट्टा आढ़े शाहजहाँ मन्थर गति के गुसल-ख़ाने से निकली, यानी आसमान पर छाई घनी बदली पुरवाई हवा के झोंके से छितराकर, एक हल्की ठंडी फुहार-सी छोड़कर आगे निकल गई। हमने शाहजहाँ को देखा—उठता यौवन, जैसे आम का पेड़ बर्सात के बाद बौर से लद गया हो, बदन कठ रंग, जैसे रात की बारिश के बाद सुबह का हल्की धूप-, गठा बदन और बड़ी-बड़ी चमकीली आँखें! और·····हम उसके सौन्दर्य को अपने में समा भी नहीं पाये, घबरा से गये। हमने कुछ परीशानी से तेजी में कहा—

'आपको मुमानी बुला रही हैं।'

उसने आश्चर्य से बुआ की तरफ़ देखा और उधर ही देखते हुए कहा—

'क्यों?'

'ख़लील का 'हाल' आ रहे हैं। आप फ़ौरन क़रान शरीफ़ ले चलिए। आपको बुला रही हैं—ज़रा जल्दी!'

बुआ घबरा कर बोलीं—

'बेटा, बुर्क़ा ओढ़ ले।'

और हम शाहजहाँ को लेकर चल दिये। पल-पल पर हमारे दिमाग़ में शाहजहाँ को लेकर हज़ारों बात घूम जाती थीं। हम सोच रहे थे आख़िर किसी भी तरह शाहजहाँ से कुछ बोला जाये। हमारी इस परेशानी को रफ़ा किया शाहजहाँ ने। बोली—

'आख़िर ऐसी क्या बात हो गई? ज़िन्दा के फेर में तो नहीं पड़ गये।'

हमने कहा—

'अजी, अभी-अभी भले चंगे थे। बस, एक दम चीख़ने चिल्लाने लगे। जाने क्या-क्या बकते हैं? अपनी समझ में क़तई नहीं आता।'

और उन्होंने विस्मय से अपनी आँखें भर हमारी तरफ़ देखा—

'यह ज़िन्नों का चक्कर ऐसा ही होता है। हमारे अब्बा-ख़ालू को तो ज़िन्दों ने घर से ग़ायब कर दिया था। वह तो उन्हें अब्बू से पाला पड़ा था, वरना.....'

सड़क पार होगई थी और हम घर में घुस रहे थे, बातचीत बन्द होगई। लेकिन हमें शाहजहाँ का यह बेतकल्लुफ़ी और अपनापन कुछ अजीब-सा लगा। घर में हम घुसे नहीं

कि हमने देखा ख़लील साहेब इक़बाली का बटोरा मुह से लगाये मज़े में चुस्कियाँ लेरहे हैं। अम्बा नदारत थे और सारा घर लोभान से महक रहा था। हमने चुपके से क़ुरान शरीफ़ शाहजहाँ की गोद में इस तरह रख दिया, जैसे किसी स्त्री की गोद में उसका बच्चा सौंप दिया हो। और हम ऊपर अपने कमरे में चले गये। लेकिन हमारे कान मुमानी और शाहजहाँ की बात की ओर ही लगे थे। मुमानी कह रही थीं—

'बेटा, मैं तो घबरा गई। ख़ुदा दुश्मन को भी शैतान का यह रेब न दिखाए।'

शाहजहाँ ने पूछा—

'लेकिन यह सब हुआ कैसे, शुरुआत किस जगह से हुई?'

मुमानी ने दूर से ही वह जगह बताई, जहाँ से मियाँ ख़लील को 'हाल' आना शुरू हुए थे। शाहजहाँ ने उस जगह का बड़े मनोयोगपूर्वक निरीक्षण प्रारम्भ किया। उस जगह की कुछ मिट्टी खोदी, फिर सूँघी, पानी छिड़का और फिर वहीं जाँ-नमाज बिछा कर क़ुरान पढ़ने बैठ गई। यह क़ुरान-पाठ बस बवाले जान था। ऐसे तलफ़्फ़ुज़ कि तौबाह! और उस पर क़तल की रात के ताज़िए की तरह पल-पल पर हिलना-डुलना। हमने मुमानी को अलग बुलाकर कहा—

'हमें कॉलेज जाने को देर होरही है। जल्दी खाना दस्तरख्वान पर लगवादा।'

हम खाना खा-पीकर चले गये। शाम को जब ख़लील साहेब अपना अगला सबक़ पढ़ने हमारे पास आये, तब

हमने पूछा--

'क्या जनाब, यह सुबह क्या तूफ़ाने बदतमीज़ी थी ?'

छूटते ही बोले--

'हाल' आ रहे थे।'

बाद को उन्होंने बताया--

'मुझे ऐसा लगा कि आसमान टूटा पड़ रहा है, हमारी छत के तीर हिल रहे हैं, छत पर दुरमुट चल रहे हैं और शैतान बराबर कूद फाँद मचा रहा है।'

हम मन ही मन हँस। लेकिन राज़फ़ाश होने के डर से और 'हाल' की अहमियत कम न हो, इस वजह से सच्चाई, जिसे खलील साहेब ने हमारे सामने पेश की थी, किसी के सामने बयान करने की जुर्रत न कर सके।

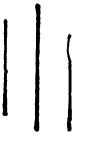

मार्क्स और प्रेम

सुरेन ने एक बार अनिमेष नेत्रों से निर्मला की ओर देखा और अत्यन्त विक्षुब्ध हो विकम्पित स्वर में कहा—

'निर्मला, मुझे तुमसे ऐसी आशा नहीं थी।'

निर्मला ने पलट कर जो देखा, तो सुरेन की क्रोध से आरक्त लाल आँखें थीं—ठीक अरुणोदय के समय के सूर्य की सी सिन्दूरी। लेकिन उसने जैसे भय को अपने अन्दर घर नहीं करने दिया। अवयवों में कहीं भी शिथिलता नहीं आने दी, विरोधी के प्रति की सी अवहेलना उसके चेहरे पर नाच रही थी, और वही भाव अन्दर भी था। उसने तनकर असंकुचित दृष्टि से प्रत्यावर्तन में सुरेन की ओर देखा। और कहा—

'और सुरेन बाबू, सुनो, मैं भी तुम्हें इतना गिरा, पतित और

दम्भी नहीं समझती थी। तुम दूसरों के लिए ही नहीं अपने लिए भी साक्षात धोखा हो। आगे मैं कुछ नहीं कहूँगी। बस, इतना और मुझे तुमसे कहना है कि मैं च हती हूँ तुम अविलम्ब यहाँ से चले जाओ। और देखो कभी मुझसे मिलने की चेष्टा न करना, कभी मेरे सामने न आना। मैं तुम्हारा मुँह देखना नहीं चाहती ——जीवन में एक बार भी तुम्हारे विषय में एक अक्षर भी नहीं सुनना चाहती।'

सुरेन नहीं बोला, एक शब्द भी नहीं कहा। कुछ क्षण किंकर्तव्यविमूढ़सा खड़ा रहा—मौन, एकदम रात में सूने उनींदे पेड़ों की तरह। और उसके बाद उसने अपना फेल्ट-हेट उठाया और धीरे-धीरे कमरा पार कर गया। सुरेन के कमरे से चले जाने के पश्चात् भी निर्मला का क्रोध तनिक भी कम नहीं हुआ—उसके नथने वैसे ही फूले हुए थे—साड़ी का छोर सिर से खिसक कर वक्ष पर और वक्ष से कटि पर झूल गया था। और वह वैसी ही खड़ी थी, साक्षात चंडी का सा रौद्र रूप धारण किये। मानो जो कुछ उसने कहा उसमें हृदय की अग्नि-ज्वाला किंचित् भी क्षीण नहीं हुई है वरन् यह जो सुरेन अपने को सत्य का पुजारी कहता फिरता है, बिना पूरी सजा पाये ही अपमान का काला रंग उस पर पोत कर आँखों की सीमा के बाहर हो गया। उसकी इच्छा थी कि सुरेन खड़ा खड़ा सुने और उसके हृदय की महीनों से प्रज्वलित अग्निशिखाओं को पुंजीभूत हो सामने आने का और

फिर वहीं शान्त होने का अवसर मिल। लेकिन सुरेन तो चला गया, अपना अभिमान अछूता बचाकर ? उसने चीख कर कहा ——

'नॉनसेन्स ····· स्ट्रोट डॉग !" कमरा भारी आवाज से प्रतिध्वनित हो उठा और वह अपने आप ही आत्म-स्पर्श से छुई-मुईसी कुम्हलाकर पास की कुर्सी पर गिर पड़ी। निर्मला कुर्सी पर बैठी थी। मन उसका अस्वस्थ था। लेकिन अन्दर ही अन्दर वह काफी सचेत हो चुकी थी। अन्तर्वेदना का बाह्य रूप अत्यन्त व्यापक होकर उसकी भावना और मस्तिष्क से प्रणोदित होने वाले प्रत्येक स्फुरण के साथ घुल मिल कर, राख तले सजीव अंगारों सी मन में व्याप्त हो गई थी। वह उदास थी।

इस सुरेन के लिए उसने अपना घर, माता-पिता मान मर्यादा सभी को कच्चे मिट्टी की घरौंदे मान कर ताड़ दिये। इस सुरेन के लिए उसे क्या कुछ नहीं करना पड़ा है। यहाँ तक कि ··· लेकिन आज जिस घटना को विस्तार देकर उसने तोहमत उस पर लगाई, वह तो उसे कैसे भी नहीं पचा पाई। उसे अमुक बात सुन कर ऐसा प्रतीत हुआ जैसे अनजाने ही मक्खी निगल गई है। और उसके फल स्वरूप कै दोनों ही चाहिए—— अवश्य होनी चाहिए। और जो कुछ उसने कहा वह मन की कै ही तो थी। इतनी अनधिकार चेष्टा —इतना बड़ा कलंक ···मर्यादा रहित, असत्य ·· छि ··· छि···वह सोच रही थी ——

"क्या पुरुष जाति इतनी निर्लज्ज—कापुरुष और अनीतिपूर्ण हो सकती है। माना कि क्रोधावेश में मैंने ऐसा भी कह दिया, जो अनुचित था। लेकिन बात उन्होंने ही उठाई थी—क्यों उठाई मैं क्या उनसे कुछ कहने गई थी।"

"मैं अपने से पूछ चुकी हूँ। आज की घटना का अणुभर भी उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं है। जो जैसा कहेगा वैसा सुनेगा भी। हम मिट्टी के निष्प्राण खिलौने तो हैं नहीं, कि जो कुछ मन में आये कह डालो। न हुए हम उनके विनोद भर बन गए, कि जैसा चाहा उपयोग कर लिया।"

और वह अपने आप ही तनकर बैठ गई। पानी उसे अपने कहे पर किसी के सामने सफाई पेश नहीं करनी। सफाई का-सा जैसे उसके जाने, अनजाने, कोई अपराध नहीं हुआ है। वह तनकर बैठी अविचल न जाने कब तक पाषाण प्रतिमा बनी बैठी रहेगी, वह तो चाहती है युग युगान्तर तक ठीक ऐसी बैठी रहे—बैठी ही रहे। मिसराइन आई ——— पूछा———

'बहू जी खाना खा लीजिये—ठंडा हो रहा है।'

और उसने अपने मौन तुड़वाने के प्रयास पर चिढ़ कर कह भर दिया———

'नहीं खाना—जा, भाग यहाँ से—चल भाग।' नौकरानी ने

फटकार सुनी, तो धीरे से खिसक गई।

निर्मला के आस पास शून्य एकाकीपन का जो वातावरण है उसी में वह फ़िलहाल तो रमी रहना चाहती है। बाहर का कोई भी व्यक्ति उसकी वेदना में भाग नहीं ले सकेगा। समवेदना का भाव ही क्यों किसी दूसरे के मन में उसके प्रति जागरूक हो? ऐसी खोखली समवेदना की उसे अपेक्षा नहीं है। उसने कोई अकार्य नहीं किया है। लेकिन वह अपने नारीत्व पर—अपने स्वत्वों पर यों पदाघात नहीं होने देगी। वह इस मानवीय-संसार में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व चाहती है, गुलामी-वृत्ति उसे स्वीकार नहीं है। और सुरेन, जो आज महीनों से अपना राग अलाप रहा है उसका खुला विरोध न करना गुलाम वृत्ति न होगी, तो और क्या? उसका एकमात्र दोष यह है कि वह अपने को सुरेन के 'अपने' रास्ते पर चला नहीं पाती। मार्ग-निर्माण किया है सुरेन ने—सुरेन ने सिद्धान्त बनाये हैं, अपने लिए और उनके अनुकरण में सहयोग देना जब निर्मला का मन जीवन का प्रशस्तमार्ग नहीं मानता उसमें कहीं भी उसे पथ-प्रदर्शन की भावना का समावेश नहीं मिलता, फिर जबरदस्ती ही उसे कैसे स्वीकार करले, कैसे उसे 'अपनी' मान कर हृदयङ्गम करले। क्या ऐसे 'स्वीकार्य' में उसके मन का— उसकी आत्मा का साथ होगा— कभी नहीं, किंचित भी नहीं! मन ने आगे बढ़ कर समस्त्व की दलील पेश की। स्त्री और पुरुष! दोनों का संगम—केन्द्रीकरण ममत्व है। वे पारस्परिक सेक्स के विरोधाभासी होते हुए भी इस संगमपट पर पर्य्यायवाची हैं। एक की

पूर्ति दूसरे में। और इस कारण दाम्पत्यजीवन में यह विरुद्ध विचार धाराएँ, स्वातन्त्र्य की भावना, मनकी खोटी वृत्ति है—— उद्दण्डता है, जो यथार्थ जीवन से कोई वास्ता नहीं। किन्तु वह तो इससे परे सोच रही थी, कि इस हाड़ मांस से युक्त उसी जिसका मानव ने प्राणी मात्र को नारी नाम की संज्ञा दे कर दासत्व लादने की क्रूर अमानवीय भावना क्यों सक्रिय होने दी ? इस सुरेन को ही लो, भला इससे मैं किस बात में हेटी हूँ ? मैं अपने भावों के व्यक्ती-करण के लिए स्वतन्त्रता चाहती हूँ —— जानवरों का-सा हाँका तो मुझसे इस जीवन में सहा नहीं जाता। अभी-अभी और न जाने बैठी क्याक्या वह सोचती, तभी मिसेज दास ने आकर पीछेसे उसकी आँखे बन्द कर ली, फिर एक हाथ हटाया और एक हल्की सी चपत उसके गाल पर रसीद करते हुए कहा ——

'बड़ी उदास हो जी, हमने कहा, क्या हम जाये ?' निर्मला ने अपने तई मनःस्थिति सुधारने की चेष्टा की। लेकिन चेष्टा के प्रति निष्क्रयता इतनी सबल थी कि एक शब्द भी उसके मुंह से नहीं निकल सका। वह रुआँसी हो गई। उसकी आंखो में आंसू आ गए थे, जो इस बात के प्रतीक थे, कि अब तो कुछ भी अन्दर सहा नहीं जाता। मिसेज दास का विनोदपूर्ण मुख अन्तरवेदना के तापमान से द्रवित हो गया। उसने निर्मला को अपने बाहुपाश में कस कर झकझोर दिया— 'अरे निर्मला! रोती है। क्यों ?' और निर्मला के अन्दर क्रोध-

ने आश्रय पाया, तो वेग से आँखो द्वारा खारा जल बनकर निसृत

हो चला। उसने अपना सिर मिसेज दास के वक्ष में इस प्रकार छिपा लिया, मानों दिन भर के परिश्रान्त पक्षी ने सुदूर-देश से आकर सन्ध्या समय अपने घोंसले में बसेरा लिया हो। वह निःशब्द फफकती उसके साथ चिपटी रही, ऐसी जैसे कोई लतिका अपने जीवन-काल में प्रभात पार्श्व के वृक्ष का प्रश्रय पा, उसके सहारे पनप कर एकांगी बन गई हो। इस निर्मला ने सोचा कि जो सहारा मिला है, उस प्राणी में मेरे लिए केवल थोथी समवेदना या आत्म-प्रदर्शन ही नहीं है इसके अतिरिक्त जो मानवीय है उसी पर विश्वास किया जा सकता है--उसे करना चाहिए। मिसेज दास ने निर्मला को थपथपा कर उसकी पीठ पर हाथ फेरा। अव्यवस्थित अलकों को मुख पर से हटा कर ठीक किया और अपने रूमाल से उसके आँसू पोंछ दिए। मिसेज दास ने पूछा----

'अरी यह तो बता बात क्या हुई ?' निर्मला इच्छा रहने पर भी बोल न सकी। वह सोच रही थी वह कहे भी तो क्या कहे, मिसेज दास ने किंचित व्यंगात्मक मुस्कराहट चेहरे पर लाते हुए कहा——

'शायद आज उनसे फिर झपट हो गई। मेरी समझ में नहीं आता मि० सुरेन क्यों अपनी पार्टी के सिद्धान्त मनवाने के लिए अपने अन्दर के पशुत्व का प्रयास करते हैं। तुम नहीं मानती तो फिर विवश क्यों करना ? बहन, यही क्या हमारा अभिशाप है, कि हम नारी हैं ?'

मिसेज दास रुकीं, यह आभास लेने के लिए कि जो बेतुकी

बात उन्होंने उठाई उसका प्रारम्भ ठीक हुआ या नहीं। निर्मला अब तक सँभल चुकी थी। क्रोध के कुहासे से ढँका विवेक अपने विकास और प्रकाश का अवसर पा रहा था। उसने कहा——

'बहन! यह तुम सही मानों मैं अभी कठपुतली बन कर नहीं रह सकूँगी। मेरे ऊपर केवल नारी और पुरुष का विभेद होने के कारण ही यह बर्बरता का व्यवहार नहीं चल सकेगा। मैं जिस चीजमें विश्वास नहीं करती उसे केवल उसका क्रोध या धमकी मुझसे नहीं मनवा सकेगी। मैं सौ दफा कह चुकी, जिस राजनीति में मुझे विश्वास नहीं है उसे तुम मेरे सामने न दोहराओ। तुम उसे ठीक समझते हो तो मानो सौ दफा मानो तुम्हारा कौन हाथ पकड़ता है? तुम्हें अमुक बात रुचिकर है, तो रुचि और उसका सम्बन्ध तुम्हारे साथ है। लेकिन रोज-रोज की यह मानसिक प्रताड़ना मुझ से तो नहीं सही जाती। सहनशीलता की भी कोई हद होती है। अब तुम्हीं बताओ यदि मैं महात्मा गाँधी के मार्ग-अनुसरण में अपनी आत्म-ग्रन्थि का सुखद्भाव पाती हूँ, तो फिर कैसे उसे अनावश्यक कह कर केवल 'उनके' लिए अपनी आत्मा को प्रखर-ध्वनि की अवहेलना कर दूं। मैं कभी उनसे नहीं कहती कि तुम अपनी पार्टी की सदस्यता छोड़ कर काँग्रेस के हामी बनो।'

निर्मला साँस लेने के लिए रुकी। मिसेज दासने आगे बात करने का अवसर न देते हुए पूछा——

'लेकिन आज क्या हुआ?' निर्मला ने कहा---

'बात क्या हुई ! आज महाशय पार्टी-आफिस से आये तो कहने लगे—एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। तुम्हें आज ही कांग्रेस की चवन्नी मेम्बरशिप से संबन्ध त्यागना होगा। जो चीज प्रोलेतारियत वर्ग (सर्वहारा-वर्ग) से संबन्ध नहीं रखती जिसके पीछे केवल शोषक और शोषण की दुर्भावना है उसके साथ तुम्हारा सम्पर्क मैं तिल भर भी सहन नहीं कर सकता। तुम कामरेड सुरेन की पत्नी हो और तुम्हें यदि उसके साथ जीवन-निर्वाह करना है, जो आज से ही—नहीं अभी—से पार्टी-आफिस चल कर अपना नाम तुम्हें इनरोल करना होगा।"

मैंने विरोध किया, तो मेरे चरित्र पर लांछन लगाने लगे और इसके बाद बात यहाँ तक बढ़ी कि वे आपे से बाहर हो गये कहा-तुमसे मुझसे ऐसी आशा नहीं थी।'

और इसके उत्तर में मेरे पास केवल शब्द थे कि जो बुरी है उसे सदैव के लिये तुम छोड़ दो, और जो अच्छा हो उस ओर बढ़ जाओ। हम बुरे हैं तो हमें भी भगवान पार ही देगा।

मिसेज दास ने कहा —

'निर्मला बहन, यह पुरुष -जाति सदियों से हमें गुलामी की जंजीरों में कस कर यह समझ बैठी है कि उसे हम पर प्रकृति से शासन करने का अधिकार मिला है। वे सबल हैं हम निर्बला उसके संकेत पर नाच उठने वाली पुतली। मजा तो यह है कि आज का शिक्षितपुरुष-वर्ग हमें एक ओर तो अपने अधिकारों की मांग, अपने उचित स्वत्वों को पाने के लिए आन्दोलन करने-

के लिए कहता है और दूसरी ओर उसी वर्ग का प्रतिक्रियावादी व्यवहार — हिंसात्मक सलूक!

मिसेज दास खाँसी। रूमाल से मुँह पोंछा फिर कहा—

'जानती हो मि० सुरेन जिस विचार-धारा के हामी हैं उन लोगों का क्या मत है? उस विचार-धारा के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स का कहना है :—

'संसार का सबसे बड़ा शोषक-वर्ग नारी-समाज है। पूँजीवाद की घृणित भावना उसके अणु-परमाणु में व्याप्त है। वह पुरुष से उसके पुरुषत्व का फल ठग लेती है और एक मोहनी के रूप में बनी रहती है लेकिन देना कुछ नहीं चाहती। और उसका सम्मोहन उसी समय तक पुरुष के प्रति रहता है जब तक नारी देखती है कि पुरुष शरीर से सबल, मन से युवक और अर्थ से सम्पन्न है। जिस दिन वह पुरुष से कुछ पाता न देखेगी, तत्काल उसकी भावनाएं जोक की तरह खून चूस लेने के पश्चात् निष्क्रिय हो जायेंगी।'

मिसेज दास थोड़ा रुकी और फिर कहा —

'हम कैपिटलिस्ट क्लास के हैं। हमारे अन्दर शोषण की वृत्ति है। मैं कहती हूँ, फिर इन कामरेड लोगों को चाहिए कि वे नारी से परे रहें। जो फ्रायड या मार्क्स कहते हैं जो लेनिन या स्तालिन उसे कहते हैं केवल उसे ही ब्रह्म-वाक्य मान कर जीवित रहें। मैं नहीं जानती फिर यह लोग नारी के प्रति आसक्ति क्यों समेटे फिरते हैं ?

निर्मला अब तक कहने भर को चुप बैठी थी। जैसे तूफ़ान से पहले की स्थिति हो — ऊपर से शान्त और अन्दर मन्थन—उद्वेलन—ज्वालामुखी ! निर्मला, मिसेज दास की बात सुन तमतमा उठी -'कैपिटलिस्ट क्लास के हम हैं, या यह पुरुष--जाति वे हमें मीठी-मीठी बातों में फँसा कर, यह हमारा सर्वस्व छीन लेते है । यहाँ तक कि हम अपना शरीर तक उन्हें सौंप देते हैं। उनकी क्रूरता को प्रेम--चिन्ह समझकर भगवत आशीर्वाद के समान ग्रहण करते हैं। उनकी वासना सक्रिय बनकर हमें माँ बनने के लिए विवश करती है, नौ महीने तक उनके इस पशुत्व-पूर्ण मनोविनोद को हम असहनीय वेदना सह कर भी आशा और महत्वाकांक्षा से पूर्ण फल के रूप में उनके सामने रख देते हैं। और उसी मातृत्व की भावना से ओतप्रोत नारी का यह अपमान ! मैं बिना सुरेन के जीवित रह सकूँगी, यदि ऐसे पुरुष संसार में हैं, तो ? निर्मला थकी नहीं, आवेगी में वह कहे चली जा रही थी———

'मैंने अब तक जो कुछ किया, वह मेरी भूल थी —मन-की प्रवंचना थी। मैंने बाह्य आकर्षण को भी इतना महत्व दिया कि उसे प्रेम मान बैठी। सुरेन की मेरे प्रति आसक्ति प्रेम नहीं थी। और आज जब मैं दूर देश में अपने माता-पिता को छोड़कर भाग आई हूँ, तब मेरी आँखें खुली हैं — सत्य को मैंने पहीचाना है। मेरी बहन,मैं तुमसे क्या कहूँ। जब सुरेन को पहले हो पहले मैंने युनिवर्सिटी में देखा तो एक अद्भुत आकर्षण मेरे बाहर और अन्दर की दुनिया के ऊपर था। सुरेन ने

क़दम बढ़ाया और मैंने आत्म-समर्पण कर दिया। जानती हो, इन्होंने क्या प्रौमीसेज़ किए थे ———— '

'निर्मला, जीवन तुम्हारे बिना सूना है। मैं केवल तुम्हें चाहता हूँ। तुम्हारे लिए — तुम्हारे प्रेम के लिए मैं अपना सब कुछ न्योछावर करने के लिए तैयार हूँ। यदि तुम्हें न पा सकूँगा तो जीवन का अन्त कर दूँगा। सच मानो, सुरेन सदैव के लिए स्मृति की एक क्षीण रेखा छोड़कर अनन्त में विलीन हो जायेगा। एक पत्र में लिखा था—

केवल तुम्हारा एक अक्षर 'हाँ' मुझे प्राणदान दे सकता है। मेरी मृत-प्राय महत्वाकांक्षाओं को पुनर्जीवित कर सकता है। मैं चाहता हूँ, हम दोनों समाज के संकीर्ण वातावरण से उन्मुक्त हो प्रातःकाल की ठण्डी समीरण के बहाव में उड़ते पक्षियों की भाँति इस नीड़ को छोड़कर, दूर देश के किसी अनजान स्थान में अपनी दुनिया बसाएँ जहाँ केवल तुम और मैं होऊँ— बाहर का कोई हस्तक्षेप न हो। न यह मानवीय ऊच—नीच के नारी-पुरुष के प्रतिबन्ध!' निर्मला ने कहा—

'हम लोगों ने यहाँ आकर छै महीनों में नवीन दुनिया बसाई है, कि मुझे एक शब्द भी कहना मुहाल है। कुछ भी हो मैं भी सिद्धांत हैं। मेरी भी आत्मा है और मैं उन दोनों की अवहेलना नहीं कर सकती ··नहीं करूंगी। मिसेज दास, आज छै महीने बाद मैं घर लौट जाऊँगी, एक सजीव लांछना की पात्री बनकर ही सही। लेकिन मुझे विश्वास है, इतनी भर्त्सना तो मेरी माता भी नहीं करेंगी। उनकी सूनी गोद में अब भी मेरे लिए विस्तृत संसार है। लेकिन मैंने पुरुष को—उसके स्वार्थ को

बहुत पास से देखा है और मैं कहूँगी कि पुरुष केवल छल का प्रतीक है। उसके पुरुषत्व और उस पर विश्वास की हल्की-सी पर्त जमाने के पूर्व परख की आवश्यकता है। कैसे भी क्षणिक आवेग में उसके सम्पर्क की भावना करना भूल ही नहीं, पाप है, और इस पाप के लिए प्रायश्चित्त नारी को जीवन भर करना पड़ता है।'

मिसेज़ दास अवाक् सूनी आँखों से निर्मला की बातों और कहने के ढंग को देखती और सुनती रही। निर्मला ने इस बार और अधिक स्वस्थ होकर कहा —

'मिसेज दास! मैं आपकी कृतज्ञ हूँ, इन छै महीनों में आपने मुझे कभी भी अपना-पराया समझने की प्रेरणा उत्पन्न नहीं होने दी; हम सगी बहनों की तरह रही हैं —साथ-साथ स्वतन्त्रता-दिवस पर तिरंगे झंडे बेचे हैं — खादी को गाँठें कन्धे पर रखकर प्रभात-फेरी लगाई है। आज मैं अनायास ही आपको छोड़कर चली जा रही हूँ – यही मेरा निश्चय है। लेकिन बहिन, मेरे जिस प्रेम को तुमने उपजाया है, उसका अन्त थोड़े ही हो जाएगा।'

मिसेज दास की आँखों में आँसू थे और वे उन्हें रोकने का निष्फल प्रयत्न कर रही थीं। उन्होंने कहा——

'बहन आज विवेक ने तुम्हें सन्मार्ग दिखाया, तो मैं तुम्हें रोकूँगी नहीं। तुम जाओ और अवश्य जाओ। माँ-बाप में सहनशीलता का अगाध भण्डार होता है। तुम्हारी इस 'भूल' को वे भगवान

शकर के गरल-पान की तरह पचा जाएँगे। इतना ही नहीं, सुनो मैं तुम्हें अकेले ही घर नहीं जाने दूँगा।...से कह कर मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी। और माता जी को एक बार सारी स्थिति समझा दूँगी।'

निर्मला ने मिसेज दास को लपक कर अपने में समेट लिया। दोनों की आँखें आँसुओं से तर थीं। देर तक वे इसी स्थिति में खड़ी रहीं। फिर सचेत हो मिसेज दास शाम को आने का वायदा कर चली गईं।

निर्मला के अन्दर अजीब स्फूर्ति थी। कलंकित होकर घर लौट रही थी। लेकिन उसकी आत्मा फूल-सी हल्की और परागयुक्त थी। वह राष्ट्रीय-गीत गुन-गुनाती हुई ड्राइंग-रूम में गई और सामने टँगे महात्मा गान्धी के चित्र को प्रणाम किया—फिर अपना सामान व्यवस्थित करने में लग गई। सामान ठीक कर वह कोर्ट गई। उसने अपने विवाह का रजिस्ट्रेशन कैन्सिल करवाया और जब वह कोर्ट से लौटी, तो मिसेज दास अपने 'उनके' साथ निर्मला के घर पर मौजूद थीं। निर्मला-ने स्त्री-सुलभ लज्जा से सिर नत कर कहा—

'क्या मिस्टर दास भी अपने साथ चलेंगे—बहन ?'

मिस्टर दास ने तनिक गम्भीर होकर कहा—

'मुझे इन्होंने सारी बात बताई है। ऐसी स्थिति में मेरा तुम लोगों के साथ चलना आवश्यक है। मैं चलूँगा।'

अवरोध किसी ने नहीं किया। ताँगा मिस्टर दास अपने साथ लाये थे। वे दोनों ताँगे में जा बैठीं, मिस्टर दास भी

असबाब रखवा कर आ बैठे। ताँगा स्टेशन की ओर चल दिया।

रात के बारह-बजे कामरेड सुरेन जब लौटे तब भी उनकी आँखें लाल थीं—लेकिन वह क्रोध या हार्दिक क्षोभ की ललाई नहीं थी। पार्टी की सदस्या कामरेड प्रीतिमा दत्त ने उन्हें फिरपो में निमन्त्रित किया था। फिरपो में खाने की अन्य वस्तुएँ तो थी हीं, उनके साथ ही थी वाइट-हार्स-विस्की-शैंपियन रसभरी··· और उनकी आँखों में उसकी ही लाली और शुरूर था, वे अपने फ्लैट में आये, तो पैर बुरी तरह लड़खड़ा रहे थे। और जो वाक्य उनके मुँह से निकल रहे थे, वे अर्थहीन थे। उन्होंने लड़खड़ाते हुए कहा—

'मिसेज प्रीतिमादत्त लव इज ए सैक्रेड डिवोशन !' वे मिसेज प्रीतिमादत्त को आलिंगन-बद्ध करने के लिए दौड़े और वृक्ष से च्युत शाखा की तरह जमीन पर गिर पड़े।

उसी समय हवा से बातें करते हावड़ा-दिल्ली तूफानमेल के दूसरे दर्जे में बैठी मिसेज दास ने पास की बर्थ पर बैठी निर्मला-को चिकोटी काटते हुए कहा—

'मेरी बहन, आगे प्रेम की माला पहिनाते समय इन मार्क्सवादियों के प्रेम से सावधान रहना।'

निर्मला अपने में ही कट कर रह गई। मिस्टर दास ने उपर्युक्त व्यंग्य सुना भी या नहीं, पता नहीं। तूफान मेल अपनी उस रफ्तार से चला जा रहा था।

हमारे प्रकाशन

१. कर्ण—नाटक (सेठ गोविन्ददास) .. .. .. २)
२. विभूति—एकांकी नाटकों का सचित्र संग्रह (डॉ० वर्मा) २)
३. नवयुग के गान—सचित्र कविता-संग्रह .. .. १।)
४. मधुमाधवी—कहानी-संग्रह (रा० मो० करकरे) .. २)
५. झाँकी—कहानी-संग्रह—(दौलतराव परशुराम) .. १)
६. वे चेहरे—कहानी-संग्रह .. .. .. १)
७ पृथ्वीराज की आँखें—एकांकी नाटकों का संग्रह .. १।)
८. शासन-शब्द-संग्रह—राजकीय शब्दों का संग्रह .. ३)
९ चिन्तनकण—निबन्ध-संग्रह (श्री मिलिन्द) . .. १।)
१०. ग्राम-चिन्तन—ग्रामसुधार पर प्रामाणिक पुस्तक .. १॥)
११. प्रतिध्वनि (कविता संग्रह) श्री त्यागी . .. २)
१२ अश्वपरीक्षा—अपने विषय की एकमात्र पुस्तक .. २॥)
१३. गीता-परिचय—गीता की सरल व्याख्या .. .. ॥)
१४. नागरी का अभिशाप—(चन्द्रवली पांडे) .. .. १)
१५ पाँच धागे—कहानी-संग्रह (श्री० चन्द्रजी) .. .. १।)
१६. शहर का अन्देशा—हास्य एवं व्यंग्य की सचित्र पुस्तक २)
७ ग्वालियर में प्राचीन मूर्तिकला .. .. .. १०)
८. मधुमक्खी (श्री शान्तिचन्द्र) .. .. .. =)
९. जंगल (श्री शान्तिचन्द्र) .. .. .. =)